

केरल संहिता

अनु. डा० रवीन्द्रशर्मा 'विकल'



॥श्री॥

वज्रजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
109

श्रीघेरण्ड संहिता

(योगशास्त्रम्)

'राघवीय'-भाषानुवाद सहिता

भाषानुवादकः
डा. राघवेन्द्रशर्मा राघवः
शिक्षक सम्मान प्राप्तः
संपादकः–मानसहंस श्रीराम (पत्रिका)
लेखक प्रमुख–इतिहास संकलन समितिः



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

38 यू. ए. जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाषः 2385639।

प्रथम संस्करण 2004 ई.

मूल्य 50.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाषः 2320404

*

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाषः 2335263, 233337।

मुद्रक

ए. के. लिथोग्राफर

दिल्ली



प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में योगशास्त्र ऐसा विषय है, जिसमें मानव सभ्यता के इतिहास में त्रिविध-(आधिभौतिक-दैविक-आत्मिक) तापों की शांति हेतु नित्य नैमित्तिक आचार पद्धति का सृजन कर मानवकल्याण का सर्वयुगानुकूल ओर वैज्ञानिक व्यवस्था दी गयी है। इहलौकिक सुख के साथ-साथ पारलौकिक सुख की विधि और प्रक्रिया का आमूल वर्णन करते करते योगशास्त्र ने विश्व के प्रत्येक चिन्तक, वैज्ञानिक और भौतिकवादियों तक को भी आदर्श, संयत जीवन जीने की कला सिखायी है।

यही नहीं, योगदर्शन ने नितान्तभौतिकवादियों को भी सोचने पर विवश कर दिया है कि देहावसान के पश्चात् निर्गमन कर जाने वाला तत्त्व जगद्वस्तु का वायु नामक तत्व नहीं है तो फिर वह कौन सा तत्व है ? जिसके होते शरीर चेतन रहकर सारी क्रियायें करता है, सुखदु:खानुभव करता है, मैं और तू का व्यवहार करता है तथा विभिन्न मानवतुल्य क्रिया करने वाले रोबोट या कम्प्यूटर से यह चेतनशक्ति बिल्कुल ही अलग है। आखिर यह शक्ति या तत्व क्या है ?

भारतीय दर्शन और योगशास्त्र में इसका सप्रमाण गूढ़-गहन चिन्तन किया गया है तथा मनुष्य को इस तत्व को जानने की एक सर्वथा सटीक वैज्ञानिक दृष्टि दी है। यह तत्व आत्मा ही है, जिसे जानने समझने हेतु योगशास्त्र में यम नियम आसनादि आचार विधि की व्यवस्थित परिकल्पना की गयी है। इन अष्ट योगाङ्गों की सिद्धि से न केवल शारीरिक आधिव्याधियों की शांति होती है, वरन् आत्मा क्या है? उसकी सिद्धि का उपाय क्या है? यह भी योगशास्त्र में भलीप्रकार समझाया गया है।

योग में नित्य साधनकर्मों का महत्व (यथा—षट्कर्मों, धौति, अन्तर्धौति, वातसार, वारिसार, प्रक्षालन, शोधन आदि कर्मों का) सर्वाधिक महत्व माना गया है । अनेक योगीजन योग साधना में इनका नियमानुसार पालन करके मोक्षमार्ग की अपनी साधना को सरल करते हैं । यहाँ तक कि योगीजन कभी अस्वस्थ नहीं होते । और यदि कभी भौतिक-दैविक-आत्मिक तापों से पीड़ित भी होते हैं, तो प्राकृतिक विधि से ही वे योगक्रियाओं से शरीर और मन को पूर्ण स्वस्थ पाते हैं । आसनों, प्राणायाम, मुद्राओं के पालन से उनकी योग सिद्धि का मुख्य लक्ष्य आत्मा का ज्ञान सुलभ हो जाता है । धारणा, ध्यान और समाधि उसी आत्मा के लक्ष्य मात्र हो जाते हैं ।

घेरण्ड संहिता की पूर्व भाषा-टीकाओं में अनेक अपेक्षाओं और कमियों को देखते हुए प्रस्तुत प्रकाशन की विगत समय से छात्रों द्वारा अपेक्षा प्रकट की जा रही थी, अतः इस प्रकाशन की उपयोगिता छात्रों के हित में निश्चय सिद्ध होगी, ऐसी हमारी कामना है । छात्रों को पुस्तक की पंक्तियों का अनुवाद सम्यक और सरल रूप से समझ में आ सके, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान द्वारा इसी निमित्त ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है ।

डा. राघवेन्द्र शर्मा राघवः

७-५-२००४

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोपदेशः

द्वितीयोपदेशः

तृतीयोपदेश



चतुर्थोपदेश

पञ्चयोपदेश

षष्ठोपदेश

*



॥ श्रीः ॥

घेरण्डसंहिता

'राघवीय' - भाषानुवादसहिता

–*–

अथ प्रथमोपदेशः

अथ षट्कर्मसाधनप्रकरणम्

भाषानुवादे मंगलाचरणम्

योगराजं हि श्रीकृष्णं वन्दे भवभयनाशकम् ।
घेरण्ड योगशास्त्रेदं योगसाधन साधकम् ॥
घेरण्डसंहिता भाष्यं 'राघवीयं' करोम्यहम् ।
सम्यगर्थ हि ज्ञानाय योगीनां हितसाधकम् ॥

घटस्थयोगकथनम्

एकदा चण्डकापालिर्गत्वा घेरण्डकुट्टिरम् ।
प्रणम्य विनयाद् भक्त्या घेरण्डं परिपृच्छति ॥ १ ॥

अनुवाद—एक बार चण्डकापालि नाम के एक योगी घेरण्ड नामक एक दूसरे योगीराज की कुटी में जाकर विनय से भक्ति सहित प्रणाम करके घेरण्ड ऋषि से पूछने लगे ॥ १ ॥

श्रीचण्डकापालिरुवाच

घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगीश्वर वद प्रभो ॥ २ ॥

वे बोले—हे योगेश्वर ! जो तत्त्व ज्ञान का कारण है तथा शरीर में

स्थित योग है, उसे मैं इस समय सुनना चाहता हूँ। हे स्वामिन् ! हे योगेश्वर ! यह मुझे (कृपा करके) बताइए ॥ २ ॥

घेरण्ड उवाच

साधु साधु महाबाहो यन्मान्त्वं परिपृच्छसि ।
कथयामि हि ते वत्स सावधानाऽवधारय ॥ ३ ॥

तब घेरण्ड ऋषि ने कहा—हे विशालबाहो ! बहुत अच्छा, तुम्हे बहुत साधुवाद है—धन्यवाद है। तुम जो पूछ रहे हो, उसे मैं तुमसे कहता हूँ, उसे सावधान होकर सुनो ॥ ३ ॥

नास्ति मायासमः पाशो नास्ति योगात्परं बलम् ।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः ॥ ४ ॥

माया के समान (इस संसार में) कोई पाश नही है, तथा योग से श्रेष्ठ (दूसरा) कोई बल नही है, ज्ञान से श्रेष्ठ अन्य कोई बन्धु नही है और अहंकार से बड़ा कोई शत्रु नही हैं ॥ ४ ॥

अभ्यासात्कादिवर्णानि यथा शास्त्राणि बोधयेत् ।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानञ्च लभ्यते ॥ ५ ॥

जिस प्रकार संसार में क आदि वर्ण या अक्षरों को और अनेक प्रकार के शास्त्रों को जाना जाता है, उसी प्रकार योग को ग्रहण करके तत्त्वज्ञान को प्राप्त किया जाता है ॥ ५ ॥

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनां घटः ।
घटादुत्पद्यते कर्म घटियन्त्रं यथा भ्रमेत् ॥ ६ ॥

श्रेष्ठ और निम्न कर्मों से प्राणियों का घटरूपी यह शरीर उत्पन्न होता है तथा शरीर रूपी घट से कर्म उत्पन्न होता है, जिस प्रकार कि घटीयंत्र घूमा करता है ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वाधो भ्रमते यद्वद् घटियन्त्रं गवां वशात् ।
तद्वत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युभिः ।। ७ ।।

जिस प्रकार घटीयन्त्र गवों (चक्रों) के वश से नित्य ऊपर और नीचे घूमता है, उसी प्रकार कर्म के वश से पुनः-पुनः जन्म और मृत्यु के साथ यह जीव भी घूमा करता है ।। ७ ।।

आमकुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदा घटः ।
योगानलेन सन्दह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ।। ८ ।।

यह शरीर रूपी घट कच्चे घड़े में जल भरने के समान सर्वदा गल जाने वाला है । किन्तु योगरूप अग्नि से अच्छी प्रकार तपाकर इस घटरूप शरीर की शुद्धि को सम्पन्न करना चाहिये ।। ८ ।।

अथ सप्तसाधनम्

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यञ्च लाघवम् ।
प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्तसाधनम् ।। ९ ।।

इसके पश्चात् योग के सात प्रकार के साधन बताते हुए घेरण्ड ऋषि बोले) शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, हल्कापन, प्रत्यक्षीकरण तथा निर्लिप्तता ये योग के शरीर रूपी घट में स्थित सात साधन हैं ।। ९ ।।

अथ सप्तसाधनलक्षणम्

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।। १० ।।

(सातों योग साधनों की व्याख्या करते हुए घेरण्ड ऋषि बोले) प्रथम योग साधन—शोधन छह कार्यों से, योग में दृढ़ता आसनों से, स्थिरता विविध मुद्राओं से और धीरता का भाव प्रत्याहार से होता है ।। १० ।।

प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेवं न संशयः ।। ११ ।।

लाघवता (हल्कापन की स्थिति) प्राणायाम से, तथा ध्यान से स्वयं की आत्मा में प्रत्यक्षीकरण, समाधि से निलिप्तता, और इस प्रकार मुक्ति हो जाती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ॥ ११ ॥

षट्कर्माणि

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥ १२ ॥

(योगियों को अत:) धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी (नौली), त्राटक और कपालभाति इन छह कर्मों का आचरण करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ धौति:

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥ १३ ॥

(धौति के प्रकार बताते हैं—) प्रथम—अन्तर्धौति, द्वितीय—दन्तधौति, तृतीय हृद् धौति और चतुर्थ—मूलशोधन इन चार प्रकारीय धौतियों को करके (योगीजन) घट (शरीर) को निर्मल—स्वच्छ करें ॥ १३ ॥

अन्तर्धौति:

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥ १४ ॥

(अन्तर्धौति क्या हैं ?) प्रथम-वातसार, द्वितीय—वारिसार (जल का निकालना), तृतीय—अग्निसार और चतुर्थ-बहिष्कृत, इस प्रकार घट (शरीर) को निर्मल करने की चार प्रकारीय अतंर्धौति हैं ॥ १४ ॥

वातसार:

काकचञ्चूवदास्येन पिबेद् वायुं शनैः शनैः ।
चालयेदुदरं पश्चाद् वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥ १५ ॥

(अब अंतर्धौति का वातसार प्रकार क्या है, यह बताते हैं—) (इसके लिये पहले) काकचंचु (कौवे की चौंच) के समान मुख से (मुख को बनाकर) वायु को शनै:-शनै: पीना चाहिये । पुन: उदर को चलाना चाहिये और मुख से वायु को शनै:-शनै: निकालना चाहिये ॥ १५ ॥

वातसारफलम्

वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम् ।
सर्वरोगक्षयकरं देहानलविवर्द्धकम् ॥ १६ ॥

(वातसार का क्या फल है—यह बताते हैं) वातसार क्रिया (योगियों को लाभदायी होने के कारण) अतीव गोपनीय है । यह शरीर को निर्मल करने का कारण है । यह सब रोगों को विनष्ट करने वाली तथा देहाग्नि (जठराग्नि) को बढ़ाने वाली है ॥ १६ ॥

वारिसार:

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण पिबेच्छनै: ।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदध: ॥ १७ ॥

(पुन: वारिसार क्या है—यह बताते हैं) जल को धीरे-धीरे कण्ठ तक पीना चाहिये, पुन: उसे उदर में डुलायें या चलायें और पुन: उस पानी का रेचन अधोमार्ग से कर देना चाहिये या (शौच स्थान या मलद्वार से) निकाल देना चाहिये ॥ १७ ॥

वारिसारफलम्

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम् ।
साधयेत्तत्प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥ १८ ॥

(वारिसार का क्या फल है, यह बताते हैं—) यह वारिसार (नामक अतंर्धौति क्रिया योगियों का विषय होने से) अतीव गोपनीय है । यह देह को

निर्मल करने वाली है । अत: इसे प्रयत्नपूर्वक साधना चाहिये । जिससे साक्षात देवताओं के समान देह प्राप्त हो जाती है ॥ १८ ॥

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारञ्च कारयेत् ।
अग्निसारमेषा धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥ १९ ॥

(पुन: अग्निसार अतंर्धौति का अर्थ करते हैं—) नाभि ग्रन्थी (नाभिगाँठ) को सौ बार मेरुदण्ड (रीढ़) से लगाये (अर्थात् पेट को अन्दर खींचना चाहिये । यह क्रिया योगिओं को सिद्धि देने वाली अग्निसार धौति कही जाती है ॥ १९ ॥

वह्निसारान्तर्धौति:

उदरामयजं त्यक्त्वा जठराग्निं विवर्धयेत् ।
एषा धौति: परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ॥ २० ॥

(यह अग्निसार धौति) उदर रोगों को दूर करने वाली तथा जठराग्नि को बढाने वाली है । यह क्रिया भी (सबके द्वारा सम्भव न होने से) देवों को भी दुर्लभ है, अतीव गोपनीय है इसी धौंति के नियम मात्र से शरीर देवताओं के समान (सुन्दर हो जाता है) ॥। २० ॥

बहिष्कृतान्तर्धौति:

काकीमुद्रां साधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत् ॥ २१ ॥

काकमुद्रा को शोधकर उदर में वायु का पान करे अर्थात् कौवे जैसा मुख करके वायु को धीरे-धीरे खींचे ॥ २१ ॥

धारयेदर्द्धयामन्तु चालयेदर्धवर्त्मना ।
एषा धौति: परागोप्या न प्रकाश्या कदाचन ॥ २२ ॥

पुनः अर्धयाम (आधे प्रहर) पर्यन्त अर्थात् डेढ़ घन्टे तक उसे उदर में धारण करे और अधोमार्ग (मलद्वार) से बाहर निकाले । यह धौति क्रिया भी (सार्वजनिक न होने से) गोपनीय ही है. (अर्थात् योगियों द्वारा की जानी ही संभव है) ॥ २२ ॥

(विशिष्ट समीक्षा—यहाँ प्रायः योगक्रियाओं को परं गोपनीया तथा देवों को भी दुर्लभ बताया है । इसका अभिप्राय यही है कि सामान्य जन न तो इन क्रियाओं को करते और न जानते ही हैं । जो बिरले योगीजन हैं, मात्र वे ही इन्हें करते और जानते हैं (और इस प्रकार) वे ही मात्र देवदुर्लभ शरीर को प्राप्त करते हैं ।)

प्रक्षालनम्

नाभिमग्नो जले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत् ।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडीं यावन्मलविसर्जनम् ॥ २३ ॥

(प्रक्षालन क्रिया का अर्थ करते हैं—) नाभिमग्न जल में स्थित होकर शक्ति नाड़ी का विसर्जन करना चाहिये । (अर्थात पेट को फुलाये रखना चाहिये तथा) दोनों हाथों से त्रिवलि स्थान को धोना चाहिये, जब तक कि मल का विसर्जन न हो जाये ॥ २३ ॥

तावत्प्रक्षाल्य नाडीञ्च उदरे वेशयेत् पुनः ।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ॥ २४ ॥

तब तक नाड़ी का प्रक्षालन करके पुनः उदर में (त्रिवलि को) बिठा दे (अर्थात् फुलाये हुए पेट को अन्दर कर ले) यह प्रक्षालन की विधि गोपनीय होने से देवों को भी दुर्लभ है (इस प्रकार इस) धौतिमात्र से ही मनुष्यों का शरीर देवदेह के समान (तेजस्वी) हो जाता है ॥ २४ ॥

बहिष्कृतधौतिप्रयोगः

यामार्द्धं धारणा शक्तिं यावन्न साधयेन्नरः ।
बहिष्कृतमहद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ॥ २५ ॥

जब तक अर्द्धप्रहर तक धारणशक्ति को व्यक्ति धारण न कर सके, तब तक महाधौति को न करे, अन्यथा उससे कुछ भी नहीं होता है ॥ २५ ॥

दन्तधौतिः

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रञ्च कर्णयुग्मयोः ।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिं विधीयते ॥ २६ ॥

(अब दन्तधौति के प्रकार बताते हैं—) दन्तमूल (दाँतों की जड़), जिह्वामूल (जिह्वा के मूलस्थान), दोनों कानों के रंध्र (छिद्र), और कपालरंध्र, ये दन्तधौति कहलाते हैं ॥ २६ ॥

दन्तमूलधौतिः

खादिरेण रसेनाथ मृत्तिकया च शुद्धया ।
मार्जयेद्दन्तमूलञ्च यावत्किल्बिषमाहरेत् ॥ २७ ॥

खदिर वृक्ष (खैर) के रस से और सूखी (शुद्ध) मिट्टी (पीली) से तब तक दन्तमूल का मार्जन करे, जब तक कि सब किल्बिष (मल) दूर न हो जाये ॥ २७ ॥

दन्तमूलधौतिफलम्

दन्तमूलं परा धौतिर्योगिनां योगसाधने ।
नित्यं कुर्यात्प्रभाते च दन्तरक्षां च योगवित् ।
दन्तमूलं धारणादिकार्येषु योगिनां मतम् ॥ २८ ॥

(यह) दन्तमूल धौति योगियों के योगसाधन में सर्वाधिक श्रेष्ठ है ।

योगवित्-योगज्ञानी जन को नित्यप्रति प्रभात समय में इसे करना चाहिये । योगियों के धारणीय कार्यों (नियमों) में यह दन्तमूल (धौतिक्रिया मुख्य) मानी गयी है ॥ २८ ॥

जिह्वाशोधनम्

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारणम् ।
जरामरणरोगादीन् नाशयेद्दीर्घलम्बिका ॥ २९ ॥

(पुनः जिह्वाशोधन क्या है, यह बताते हैं—) इसके पश्चात् मैं जिह्वाशोधन का कारण बताता हूँ । यह क्रिया वृद्धावस्था और रोगादियों को नष्ट करती है, तथा जिह्वा इससे लम्बी होती है ॥ २९ ॥

जिह्वामूलधौति:

तर्जनीमध्यमान्तानां अङ्गुलित्रययोगतः ।
वेशयेद् गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकाजडम् ।
शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥ ३० ॥

तर्जनी, मध्यमा और अनामिका इन तीनों अंगुलियों के योग से गले के मध्य-जिह्वा के मूल को घिसना चाहिये । शनैः-शनैः (इस प्रकार) मार्जन करके कफदोष का निवारण करना चाहिये ॥ ३० ॥

मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ।
तदग्रं लौहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ॥ ३१ ॥

पुनः मक्खन से (जिह्वा का) मार्जन करना चाहिये और पुनः-पुनः दोहन करना चाहिये । उसके (जिह्वा के) अग्रभाग को लौहयंत्र (चिमटा) से धीरे-धीरे खींचकर (यह अभ्यास करना चाहिये) ॥ ३१ ॥

नित्यं कुर्यात्प्रयत्नेन रवेरुदयकेऽस्तके ।
एवं कृते च नित्यं सा लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

प्रयत्नपूर्वक सूर्योदय और सूर्यास्त के समय नित्यप्रति (यह धौति क्रिया) करनी चाहिये । और इस प्रकार नित्य किये जाने पर जिह्वा लम्बी हो जाती है ॥ ३२ ॥

कर्णधौति:

तर्जन्यनामिकायोगान्मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयो: ।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥ ३३ ॥

कर्णधौति क्या है, बताते हैं—) तर्जनी तथा अनामिका दो अङ्गुलियों के योग से दोनों कानों के छिद्रों को नित्य ही मार्जन (स्वच्छ) करना चाहिये । इसके नियमित अभ्यास करने से एक विशिष्ट नाद प्रकट हुआ करता है ॥ ३३ ॥

कपालरन्ध्रधौति:

बद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्जयेद्भालरन्ध्रकम् ।
निद्रान्ते भोजनान्ते न दिवान्ते च दिने दिने ॥ ३४ ॥

नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टि: प्रजायते ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥ ३५ ॥

(कपालरंध्र का शोधन कैसे करें, यह बताते हैं) प्रतिदिन निद्रा के अन्त में (अर्थात् प्रात:काल उठने के पश्चात), भोजन करने के बाद तथा दिनान्त (सोने से पूर्व) दाहिने हाथ के अंगुष्ठ से भालरंध्र (सिर में स्थित कपाल स्थान) को मार्जन (स्वच्छ) करना चाहिये । इस अभ्यास को करने से कफ दोष निवारण होता है । नाड़ी निर्मलता को प्राप्त हो जाती है तथा दिव्य दृष्टि (स्वच्छदृष्टि) हो जाती है ॥ ३४-३५ ॥

[विशेष—यह क्रिया करने से निद्रा अच्छी आती है, वायुविकार कफ विकार शांत होता है ।]

अथ हृद्धौतिकर्म

हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद्दण्डवमनवाससा ।। ३६ ।।

(अब हृद्धौति का वर्णन करते हैं—)हृद्धौति को तीन प्रकार से करना चाहिये । ये तीन प्रकार हैं—दंड, वमन, और वास ।। ३६ ।।

दण्डधौति:

रम्भादण्डं हरिद्दण्डं वेत्रदण्डं तथैव च ।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुन: प्रत्याहरेच्छनै: ।। ३७ ।।

केला के दण्ड को, हल्दी के या वेत्रदण्ड को हृदय के मध्य में शनै-शनै: चलाकर (प्रवेश करके) पुन: धीरे-धीरे बाहर निकाले ।। ३७ ।।

दण्डधौतिफलम्

कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम् ।। ३८ ।।

(अब दण्डधौति का अर्थ करते हैं—) कफ, पित्त और क्लेद (घबराहट) को मुखमार्ग से (इस दण्डधौति क्रिया से) रेचन करते हैं (बाहर निकाल देते हैं) यह हृदयरोग दण्डधौति के विधान से निश्चय नष्ट हो जाता है ।। ३८ ।।

वमनधौति:

भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठपूरितं सुधी: ।। ३९ ।।
उर्ध्वां दृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुन: ।
नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ।। ४० ।।

(वमन धौति क्या है? यह बताते हैं) भोजन के बाद में सुधीजन कंठ तक जल को पी लें, पुन: क्षणपर्यन्त उर्ध्वदृष्टि करके उस जल का वमन कर दे । इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यासयोग से कफ और पित्त का निवारण करना चाहिये ।। ३९-४० ।।

वासधौतिः

चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुनः प्रत्याहरेदेतत्प्रोच्यते धौतिकर्मकम् ॥ ४१ ॥

(वासधौति क्या है? इसे कहते हैं—) चार अङ्गुल के विस्तार वाला (चौड़ा) महीन (पतला) वस्त्र धीरे-धीरे निगलना चाहिये तथा पुनः इसे शनैः-शनैः निकालना चाहिये । इस क्रिया को वासधौति कहते हैं ।

वासधौतिफलम्

गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति ।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥ ४२ ॥

(वासधौति को करने से) गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ, कफ और पित्त रोगों का विनाश होता है । तथा दिन-प्रतिदिन आरोग्य, बल एवं पुष्टि (की वृद्धि) होती है ॥ ४२ ॥

मूलशोधनकर्म

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ॥ ४३ ॥

(मूलशोधन का लक्षण करते हैं—) जब तक मूल शोधन नहीं होता (उदर शौच साफ नहीं होता) तब तक अपानवायु की क्रूरता रहती है अर्थात् अपानवायु कष्टकारक बनी रहती है । अतः प्रयत्न पूर्वकमूल का शोधन करना चाहिये ॥ ४३ ॥

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा ।
यत्नेन क्षालयेद् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

पीतमूल (हल्दी) के दण्ड से या मध्यमा अङ्गुलि से यत्नपूर्वक जल से पुनः-पुनः गुह्यस्थान (मलद्वार) को धोना (साफ करना) चाहिये ॥ ४४ ॥

वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत् ।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च वह्निमण्डल दीपनम् ॥ ४५ ॥

(इस शोधन क्रिया से) उदर की काठिन्यता का और अजीर्ण का निवारण करना चाहिये । यह कान्ति और पुष्टि की कारक तथा जठराग्नि की प्रदीप्त करने वाली है ॥ ४५ ॥

द्वितीयं बस्तिकर्मप्रकरणम्

जलबस्तिः शुष्कबस्तिर्बस्तिः स्याद्द्विविधा स्मृता ।
जलबस्तिंत जले कुर्याच्छुष्कबस्तिं सदा क्षितौ ॥ ४६ ॥

(अब बस्ति प्रकार बताते हैं—) जलबस्ति और शुष्कबस्ति, इस प्रकार बस्ति दो प्रकार की कही गयी है । जलबस्ति को जल में तथा शुष्कबस्ति को भूमि में करना चाहिये ॥ ४६ ॥

जलबस्तिकर्म

नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम् ।
आकुञ्चनं प्रसारञ्च जलबस्तिं समाचरेत् ॥ ४७ ॥

नाभिपर्यन्त जल में उत्कट आसन लगाये । तब मलदार का आकुञ्चन और प्रसारण (सिकोड़ना तथा फैलाना) करे, यह क्रिया जलबस्ति कही जाती है ॥ ४७ ॥

जलबस्तिफलम्

प्रमेहञ्च उदावर्त्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥ ४८ ॥

(इससे) प्रमेह, उदावर्त, और कुपित वायु का निवारण करना चाहिये । इससे देह स्वच्छन्द होता है तथा व्यक्ति कामदेव के समान रूपवान् हो जाता है ॥ ४८ ॥

स्थलबस्तिविधि:

बस्तिं पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरध: ।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् ॥ ४९ ॥

भूमि पर पश्चिमोत्तान होकर (पीठ को और ऊपर उठाकर) गुदाद्वार को चलाकर धीरे-धीरे अश्विनी मुद्रा से आकुञ्चन और प्रसारण (सिकोड़ना और फैलाना) की क्रिया करे ॥ ४९ ॥

स्थलबस्तिफलम्

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते ।
विवर्द्धयेज्जठराग्निमामवातं विनाशयेत् ॥ ५० ॥

(स्थलबस्ति के करने से) इस अभ्यासयोग से कोष्ठदोष नहीं होता है । जठराग्नि की वृद्धि होती है तथा आमवात का नाश होता है ॥ ५० ॥

तृतीयनेतिकर्मविधि:

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम् ॥ ५१ ॥

(अब नेतिविधि क्या है, यह बताते हैं—) वितस्तिमाप का सूक्ष्मधागा नासिका छिद्र में प्रवेश करना चाहिये । पुन: उसे मुख से निकालना चाहिये, यह नेति कर्म कहा जाता है ॥ ५१ ॥

नेतिफलम्

साधनान्नेतियोगस्य खेचरीसिद्धिमाप्नुयात् ।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टि: प्रजायते ॥ ५२ ॥

नेतिकर्मों को साधने से खेचरी मुद्रा की सिद्धि प्राप्त होती है । इससे समस्त कफ दोष विनष्ट होते हैं तथा दिव्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है ॥ ५२ ॥

चतुर्थलौलिकीकर्म

अमन्दवेगेतुन्दं च भ्रामयेदुभपार्श्वयो: ।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम् ॥ ५३ ॥

(लौलिकी विधि बताते हैं—) तीव्रवेग से उदर को दोनों पार्श्व भागों में घुमाये । यह सब प्रकार के रोगों को नष्ट करता है तथा जठराग्नि को बढ़ाता है ॥ ५३ ॥

पञ्चमंत्राटककर्म

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत् ।
पतन्ति यावदश्रूणि त्राटकं प्रोच्यते बुधै: ॥ ५४ ॥

(त्राटक विधि क्या है—) निमेषोन्मेष (पलक का खोलना-बन्द करना) छोड़कर एकटक से सूक्ष्म लक्ष्य को देखना चाहिये, जब तक कि अश्रु नहीं गिरते हैं । इसे विद्वानजन त्राटक कहते हैं ॥ ५४ ॥

त्राटकफलम्

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम् ।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टि: प्रजायते ॥ ५५ ॥

इस (त्राटक विधि के) अभ्यासयोग से निश्चित ही शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि हो जाती है । नेत्र के सब रोग विनष्ट होते हैं तथा दृष्टि दिव्य हो जाती है ॥ ५५ ॥

कपालभातिकर्म

वातक्रमेणव्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषत: ।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत् ॥ ५६ ॥

(अब कपालभाति क्या है, यह बताते हैं—) वातक्रम, व्युत्क्रम और शीतक्रम ये तीन भालभाति (कपालभाति) क्रियायें हैं । ये कफ दोष का निवारण करती है ॥ ५६ ॥

वातक्रमकपालभातिकर्म

इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत्पिङ्गलापुनः ।
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।। ५७ ।।

(वातक्रम कपालभाति क्या है, अब यह कहते हैं—) इडा से वायु को खींचे तथा पिङ्गला से पुनः रेचन करना चाहिये अर्थात् वामनासिका छिद्र से श्वाँस लेकर दायें से निकालना चाहिये । तत्पश्चात् पिङ्गला से श्वाँस लेकर इडा से रेचन करना चाहिये ।। ५७ ।।

पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।। ५८ ।।

पूरक और रेचक का यह क्रम वेग से नहीं (अर्थात् धीरे-धीरे) चलाना या करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास से कफदोष का निवारण होता है ।। ५८ ।।

व्युत्क्रमकपालभातिकर्म

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ।। ५९ ।।

(व्युत्क्रमकपालभाति क्या है—) दोनों नासिका छिद्रों से जल को खींचकर पुनः मुख से उसे रेचन करना—निकालना चाहिये । पुनः व्युत्क्रम या उल्टे क्रम से मुख से पी-पी कर नाक से जल को गिराये । इस प्रकार श्लेष्मदोष का निवारण करना चाहिये ।। ५९ ।।

शीत्क्रमकपालभातिकर्म

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ।। ६० ।।

(शीत्क्रम कपाल भाति का अर्थ करते हैं—) शीत्कार करते हुए

मुख से जल पीकर पुनः नासिका छिद्रों से विरेचन करे । इस प्रकार के अभ्यास योग से व्यक्ति कामदेव के समान हो जाता है ।। ६० ।।

न जायते वार्द्धकं च ज्वरा नैव प्रजायते ।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ।। ६१ ।।

(इस अभ्यास योग से) वार्द्धक्य उत्पन्न नहीं होता है, न ही जरा या जीर्णता आती है । शरीर स्वच्छन्द या सुदृढ़ रहता है (इस प्रकार) कफदोष का निवारण करना चाहिये ।। ६१ ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये षट्कर्मसाधनं नाम प्रथमोपदेशः ।।



अथ द्वितीयोपदेशः

अथ योगासनप्रकरणम्

घेरण्ड उवाच

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः ।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि च ।। १ ।।

(अब आसन विधि बताते हैं—) समस्त आसन उतने ही हैं, जितने संसार में जीवजन्तु हैं । प्राचीन समय में शिवजी ने उनकी चौरासी लाख संख्या कही है ।। १ ।।

तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ।। २ ।।

उनके भी मध्य में चौरासी सौ आसन विशेष कहे हैं और मनुष्य लोक में उनमें भी विशेषत: बत्तीस आसन ही शुभ हैं ।। २ ।।

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रञ्च स्वस्तिकम् ।
सिंहञ्च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ।। ३ ।।
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं सङ्कटं तथा ।। ४ ।।
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथाचोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तानमण्डूकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम् ।। ५ ।।
शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजङ्गञ्चयोगासनम् ।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके हि सिद्धिदम् ।। ६ ।।

सिद्धासन, पदमासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन,

सिहाँसन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासान, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूररासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुड़ासन, वृषभासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन, योगासन, (ये सब) कुल बत्तीस आसन मनुष्यलोक में सिद्धियाँ देने वाले हैं ॥ ३-६ ॥

अथ आसनानां प्रयोगाः

सिद्धासनम्

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं संपीड्य गुल्फेतरम्
मेढ्रे सम्प्रणिधाय तं तु चिबुकं कृत्वा हृदि स्थापितम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तर-
मेवंमोक्षविधायतेफलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ७ ॥

(सिद्धासन की विधि बताते हैं—) पैर की एड़ी को योनिस्थान के नीचे लगाये, पुनः इतर गुल्फ (दूसरे पैर की एड़ी) को मेढ़ या लिङ्गमूल में रखे । पुनः चिबुक (ठोड़ी) को हृदय में लगाकर समस्त इन्द्रियों को संयम करके अचल दृष्टि से भ्रुवों के मध्य में देखते हुए (दृष्टि को स्थिर करे, इस प्रकार) मोक्ष की सिद्धि की जाती है । इस प्रकार करने से सिद्धासन फलदायी कहा जाता है ॥ ७ ॥

पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेद्
एतद्व्याधिविनाशकारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ८ ॥

(इसके पश्चात पद्मासन की विधि बताते हैं—) वाम जंघा के ऊपर दक्षिण जंघा को रखकर तथा दक्षिण जंघा पर वामचरण को स्थापित करके

तथा पीछे से दोनों हाथों से पैरों के अगुष्ठों को दृढ़ता से पकड़कर तथा चिबुक (ठोड़ी) को हृदय पर निधान करके नासिका के अग्रभाग को देखना चाहिये । यह आसन सब व्याधियों को नष्ट करता है ॥ ८ ॥

भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।
पादाङ्गुष्ठौ कराभ्याञ्च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ॥ ९ ॥

(भ्रदासन की विधि बताते हैं—) अंडकोश के नीचे दोनों एड़ी व्युत्क्रम (उल्टा करके) रखे, फिर दोनों हाथों से पीछे से पैरों के अंगुष्ठों को पकड़े ॥ ९ ॥

जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशकम् ॥ १० ॥

फिर जालन्धर करके नासिका के अग्रभाग को देखना चाहिये । इस प्रकार सब व्याधियों का विनाश करने वाला यह भ्रदासन होता है ॥ १० ॥

मुक्तासनम्

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
समकायशिरोग्रीवं मुक्तासनन्तु सिद्धिदम् ॥ ११ ॥

(मुक्तासन को बताते है—) वाम एड़ी को पायमूल (गुदा स्थान) में और दक्षिण एड़ी को उसके ऊपर रखकर सिर, गर्दन, को समान भाव से (स्थिरभाव) से रखना चाहिये । (इस प्रकार) यह मुक्तासन सिद्धिदायक होता है ॥ ११ ॥

वज्रासनम्

जङ्घाभ्यां वज्रवत्कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ ।
वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धिदायकम् ॥ १२ ॥

(व्रजासन क्या है—) दोनों जंघाओं को वज्रवत् (समानसुदृढ़ भाव

में) करके गुदा के पार्श्व (दोनों ओर) दोनों पैरों को रखना, यह वज्रासन योगियों को सिद्धि देने वाला है ॥ १२ ॥

स्वस्तिकासनम्

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १३ ॥

(स्वस्तिकासन की विधि बताते हैं—) दोनों पादतलों (पैरों) और जानुओं (पिंडलियों) को जाँघों के मध्य में करके ऋजुकाय रूप (त्रिकोणाकाररूप) में बैठे, इसे स्वस्तिकासन कहा जाता है ॥ १३ ॥

सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतां गतौ ।
चितिमूलौ भूमिसंस्थौ कृत्वा च जानुनोपरि ॥ १४ ॥
व्यक्तवक्त्रो जलंध्रञ्च नासाग्रमवलोकयेत् ।
सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ॥ १५ ॥

(सिंहासन की विधि—) दोनों एड़ियों को अडकोशों के नीचे उलटकर ऊपर को करके रखे । दोनों जानुओं को भूमि पर संस्थित करके और उनके ऊपर मुख को खोलकर जालंघर को और नासिका के अग्रभाग को देखना चाहिये । इस प्रकार यह सिंहासन सब व्याधियों का विनाश करने वाला होता है ॥ १४-१५॥

गोमुखासनम्

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः ॥ १६ ॥

(गोमुखासन क्या है—) दोनों पैरों को भूमि पर स्थापित करके पीठ के पार्श्वभागों में लगाना चाहिये, शरीर को स्थिर करके आकृति गोमुख के समान हो जाती है, यही गोमुखासन है ॥ १६ ॥

वीरासनम्

एकपादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरुसंस्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम् ।। १७ ।।

(वीरासन विधि बताते हैं—) एक पैर को ही एक जंघा के ऊपर रखे तथा दूसरा पैर पीछे की ओर रखे, इस प्रकार यह वीरासन कहा गया है ।।१७ ।।

धनुरासनम्

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम् ।
कृत्वा धनुस्तुल्यपरिवर्त्तिताङ्गं निधाय योगी धनुरासनं तत् ।। १८ ।।

(धनुरासन की विधि बताते हैं—) दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड रूप में फैलाकर, हाथों को पीछे करके दोनों पैरों को पकड़े, इसके बाद शरीर को धनुष के समान करके अङ्गों को परिवर्तित करे, इधर-उधर पलटे ।। १८ ।।

मृतासनम्

उत्तान शववद्भूमौ शयानन्तु शवासनम् ।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ।। १९ ।।

(फिर मृतासन विधि देखें—) शव के समान भूमि में सीधा शयन करना शवासन कहलाता है । यह शवासन श्रम को हरने वाला और चित्त को विश्राम दिलाने का कारण होता है ।। १९ ।।

गुप्तासनम्

जानूर्वोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ।। २० ।।

(गुप्तासन विधि का वर्णन करते हैं—) दोनों जानुओं के मध्य में पैरो को करके गोपन भाव से रखना चाहिये । तथा पैरों पर गुदा को रखे, इसे गुप्तासन कहा जाता है ।। २० ।।

मत्स्यासनम्

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनञ्चरेत् ।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्ट्य मत्स्यासनन्तु रोगहा ।। २१ ।।

(मत्स्यासन विधि—) मुक्तपद्मासन लगाकर घुटनों में सिर का वेष्टन करके सीधे होकर (चित्तहोकर) शयन करें, इस प्रकार यह मत्स्यासन सब रोगों का नाशक होता है ।। २१ ।।

पश्चिमोत्तानासनम्

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ संन्यस्तभालं चितियुग्ममध्ये ।
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगीन्द्रपीठं पश्चिमोत्तानमाहुः।।२२।।

(पुनः पश्चिमोत्तानासन विधि कहते हैं—) दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड रूप में फैला कर और सिर को जंघाओं के मध्य रखकर और दोनों हाथों से पैरों को पकड़े, इसे पश्चिमोत्तासन कहते हैं ।। २२ ।।

मत्स्येन्द्रासनम्

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः ।
नम्राङ्गं वामपादं हि दक्षजानूपरि न्यसेत् ।। २३ ।।

(मस्त्येन्द्रासन विधि—) उदर को पीठ जैसा करके पेट को और वाम पैर को नवाकर दायें पैर की जंघा पर रखे ।। २३ ।।

तत्र याम्यं कूपरञ्च याम्यं करे च वक्त्रकम् ।
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्रमुच्यते ।। २४ ।।

पुनः वामपैर पर दायें पैर की एड़ी को रखे तथा दायें हाथ पर मुख को रखे, और भ्रुवों के मध्य में दृष्टि को करे, यह मत्स्येन्द्रासन होता है ।। २४ ।।

गोरक्षासनम्

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानौव्यक्तसंस्थितौ ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ॥ २५ ॥

(गोरक्षासन विधि—) दोनों पैरों को उरुओं और जंघाओं के बीच में चित्त रखकर अव्यक्त (गोपनीय) भाव से रखे, फिर दोनों हाथों से एड़ियों को पकड़ ले ॥ २५ ॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।
गोरक्षासनमित्याह योगिनां सिद्धिकारणम् ॥ २६ ॥

पुनः कण्ठ को सिकोड़कर नासाग्र को देखना चाहिये । योगियों के सिद्धि देने वाले इसी आसन को गोरक्षासन कहा है ॥ २६ ॥

उत्कटासनम्

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फौ च खे गतौ ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ॥ २७ ॥

(उत्कटासन विधि—) भूमि पर पैरों के अंगूठों को बलपूर्वक रखकर दोनों एड़ियों को ऊपर उठाकर उनके ऊपर गुदा को रखकर उत्कटासन जाना जाता है ॥ २७ ॥

सङ्कटासनम्

वामपादं चितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले ।
पाददण्डेन याम्येन वेष्टयेद्वामपादकम् ।
जानुयुग्मे करयुग्ममेतत्सङ्कटमासनम् ॥ २८ ॥

(संकटासन विधि बताते हैं—) पृथ्वी पर वाम पैर और अंगुष्ठ को लगाकर, दायें पैर से वाम पैर को वेष्टित करे (लपेटे), पुनः दोनों जंघाओं पर हाथों को रखे, यह संकटासन होता है ॥ २८ ॥

मयूरासनम्

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापितनाभिपार्श्वम् ।
उच्चासनो दण्डवदुत्थित: खे मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ।। २९ ।।

(मयूरासन विधि—) दोनों हाथों के तलों से बल से भूमि पर स्थिर होकर उनके कर्पूर (हाथ के मणिबन्ध के समीप के भागों) को नाभि के पार्श्व भागों पर रखकर ऊपर दण्डवत् आसन में होना मयूरासन होता है ।। २९ ।।

कुक्कुटासनम्

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोन्तरे करौ ।
कूर्पराभ्यां समासीन उच्चस्थ: कुक्कुटासनम् ।। ३० ।।

(कुक्कुटासन की विधि बताते हैं—) पद्मासन लगाकर जानु और उरुओं के मध्य में हाथों को घुसाकर कर्पूर भागों (हथेली के पिछले भागों) पर मञ्चस्थ समासीन हो, यही कुक्कुटासन है ।। ३० ।।

कूर्मासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ।। ३१ ।।

(कूर्मासन बताते है—) अण्डकोश के नीचे दोनों एड़ियों को रखकर व्युत्क्रम से (विपरीत रूप से) रखे । सिर, गर्दन को और शरीर को ऋजुवत् (सीधे) रखे, यह कूर्मासन कहा गया है ।। ३१ ।।

उत्तानकूर्मसनम्

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम् ।
पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ।। ३२ ।।

(उत्तान कूर्मासन विधि—) प्रथम तो कुक्कुटासन बाँधे, पुन: हाथों से कन्धा पकड़कर पुन: कछुवे के समान चित्त हो जाये, यह उत्तानकूर्मासन होता है ।। ३२ ।।

उत्तानमण्डूकासनम्

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः ।
एतत् भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकम् ॥ ३३ ॥

(उत्तान कूर्मासनविधि—) मण्डूकासन में बैठकर हाथों के पिछले भागों से (कर्पूरों) से मस्तक को धारण कर उत्तान हो जाये । यह उत्तान मण्डूकासन होता है ॥ ३३ ॥

वृक्षासनम्

वामोरुमूलदेशे च याम्यं पादं निधाय तु ।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद्भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ॥ ३४ ॥

(वृक्षासन की विधि कहते हैं—) वाम जंघा की जड़ में दायें पैर को रखकर पुनः वृक्ष के समान भूमि पर खड़ा हो, यही वृक्षासन है ॥ ३४ ॥

मण्डूकासनविधिः

पृष्ठदेशे पादतलौ अङ्गुष्ठे द्वे च संस्पृशेत् ।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डुकासनम् ॥ ३५ ॥

(मण्डूकासन विधि—) पीछे के भाग में दोनों पैरो को करके और अंगुष्ठों को परस्पर स्पर्श करे तथा दोनों जानुओं को सामने रखे, यह मण्डूकासन होता है ॥ ३५ ॥

गरुडासनम्

जङ्घोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुनी ।
जानूपरि करयुग्मं गरुडासनमुच्यते ॥ ३६ ॥

(गरुडासन की विधि कहते हैं—) जंघा और उरुओं (पिंडलियों) से भूमि को दबाकर शरीरस्थ होकर जानुओं पर दोनों हाथों को रखे, यह गरुड़ासन कहा जाता है ॥ ३६ ॥

वृषासनम्

याम्यगुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरम् ।
विपरीतं स्पृशेद्भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ॥ ३७ ॥

(वृषासन बताते हैं—) दायीं एड़ी के ऊपर मलद्वार को तथा वामभाग में इतर पैर को विपरीत करके रखे, भूमि को स्पर्श करे, यही वृषासन होता है ॥ ३७ ॥

शलभासनविधिः

अधास्य शेते करयुग्मं वक्षे-
भूमिमवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ।
पादौ च शून्ये च वितस्ति चोर्ध्वं-
वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ॥ ३८ ॥

(शलभासन की विधि कहते हैं—) पहले नीचे मुख करके लेट जाये, दोनों हाथों को छाती में रख, करतलों से भूमि को पकड़ पुनः पैरों को शून्य में ऊपर की ओर फैलाये, इसे मुनिजन शलभासन कहते हैं ॥ ३८ ॥

मकरासनविधिः

अधास्य शेते हृदयं निधाय भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ ।
शिरे च धृत्वा करदण्डयुग्मे देहाग्निकारं मकरासनं तत् ॥ ३९ ॥

(मकरासन क्या है?) नीचे मुख करके लेटे, पुनः भूमि पर हृदय रखकर पैरों को फैलाकर पुनः हाथों से सिर को धारण करे, जठराग्नि बढ़ाने वाला यह मकरासन होता है ॥ ३९ ॥

उष्ट्रासनम्

अधास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम् ।
आकुञ्चयेत्सम्यगुदरास्यगाढमौष्ट्रञ्च पीठं योगिनो वदन्ति ॥ ४० ॥

नीचे मुख करके शयन करे, पुनः दोनों पैरों को पीछे से लाकर दोनों

हाथों से धारण करे, तथा उदर और मुख को दृढ़ता से आकुंचन (सिकोड़) ले, इसे योगीजन उष्ट्रासन कहते हैं ॥ ४० ॥

भुजङ्गासनविधि:

अङ्‌गुष्ठनाभिपर्यन्तमधोभूमौ विनिन्यसेत् ।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वशीर्ष: फणीव हि ॥ ४१ ॥

अंगुष्ठ से लेकर नाभि पर्यन्त नीचे भूमि पर रखकर, करतलों से धरा को अवलम्बित करके सिर को सर्प के फन के समान ऊपर करे, यही भुजंगासन है ॥ ४१ ॥

देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम् ।
जागर्ति भुजगी देवी भुजगासनसाधनात् ॥ ४२ ॥

(भुजंगासन का फल बताते हैं—) भुजंगासन से नित्य ही जठराग्नि बढ़ती है, सब रोगों का विनाश होता है, भुजंगासन की साधना से भुजगी देवी जागती है अर्थात् इस आसन को करने से कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है ॥ ४२ ॥

योगासनविधि:

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ॥ ४३ ॥

पैरों को उत्तान (चित्त) करके और जंघाओं पर स्थापित करके पुन: आसन पर स्थित करके हाथों को उत्तान भाव से रखे ॥ ४३ ॥

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् पूरक वायु को खींचकर अर्थात् कुंभक करके नासिका के अग्रभाग को देखना चाहिये । योगियों के योगसाधन में यही योगासन होता है ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये आसनप्रयोगोनाम द्वितीयोपदेश: ॥

अथ तृतीयोपदेशः

अथ मुदाप्रकरणम्

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥

मुद्राओं के प्रकार बताते हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान मुद्रा, जलंधर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेंचरी (ये सब आठ मुद्रायें हैं) ॥ १ ॥

विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालनी ।
ताडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा ॥ २ ॥

विपरीतकरी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, तड़ागी, मांडवी, शांभवी, धारणा[1] (यहाँ तक सोलह मुद्रायें हुई) ॥ २ ॥

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धदानीह योगिनाम् ॥ ३ ॥

(पुन: सोलह के बाद) अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी, ये कुल २५ मुद्रा कही जाती हैं, ये योगियों के लिये सिद्धिदात्री हैं ॥ ३ ॥

मुद्राणां फलम्

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ ४ ॥

(भगवान शिव पार्वती से कहते हैं—) हे देवी ! मैंने तुम्हारे सम्मुख मुद्राओं का यह वृत्त कहा है, जिसके जानने से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४ ॥

---

१. धारणा मुद्रा पाँच प्रकार की है जैसे—पार्थिवी, आरम्भसी, वैश्वानरी, वायवी, नभा ।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥ ५ ॥

ये मुद्रायें गोपनीय हैं, जिस किसी योग्य-अयोग्य को ये देय नहीं हैं। योगियों के लिये प्रातिदायक तथा देवताओं के लिये भी ये दुर्लभ हैं ॥ ५ ॥

(समीक्षा गोपनीय, अदेय, दुर्लभ आदि कहने के पीछे विशेष बात यह है कि हर कोई इन्हें कर ही नहीं सकता है । यदि सीख भी ले तो वह बिना नियम और व्यवस्था के और इन्हें या अज्ञानवश पवित्रता और समयादि के बिना करके इनसे लाभ की बजाय हानि ही उठायेंगे । अतएव अपात्र को ये मुद्रायें अदेय हैं । अनेक मुद्राओं की साधना भी कठिन है, जिन्हें देवसदृश जन भी करने में नियम का ध्यान नहीं रख पाते हैं । अत: मात्र योगीजन ही इन्हें कर पाते हैं, यह भाव है)

महामुद्राविधि:

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः ॥ ६ ॥

(अब सर्वप्रथम महामुद्रा की विधि बताते हैं—) मलद्वार को वाम एड़ी पर दृढ़ता के साथ दबाकर दायें पैर को फैलाकर हाथ से पैर की अंगुली को धारण करें ॥ ६ ॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् कण्ठ का संकोचन (सिकोड़) करके भ्रुवों के मध्य में देखना चाहिये । यह विद्वानों के द्वारा महामुद्रा के नाम से अभिहित की जाती है ॥ ७ ॥

महामुद्राफलम्

क्षयकासं गुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रा च साधनात् ॥ ८ ॥

(महामुद्रा का फल बताते हैं—) इस महामुद्रा के अत्यधिक सेवन से क्षयज खाँसी, गुदावर्त (गुदा के फोड़े) तापतिल्ली, जीर्णज्वर, तथा अन्य सब रोग़ नष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

नभोमुद्रा

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

(अब नभोमुद्रा की विधि बताते हैं—) जहाँ-जहाँ भी योगी किसी कार्य में स्थित हो, तब तब सदैव ऊपर की ओर जिह्वा से स्थित होकर वायु को धारण करे । योगियों के रोगों का नाश करने वाली यह नभोमुद्रा होती है ॥ ९ ॥

उड्डीयानवन्धः

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १० ॥

(अब उड्डीयान बंध की विधि बताते हैं—) उदर में नाभि के ऊर्ध्वभाग को पश्चिम तान (द्वार) को समान रूप से सिकोड़ना चाहिये । अर्थात् मध्यस्थ नाड़ीचक्र को सिकोड़कर उठाये । इसी को उड्डीयान बन्ध कहते हैं, गजरुप मृत्यु के लिये साक्षात् सिहँ यही उड्डीयान बंध होता है ॥ १० ॥

उड्डीयानबन्धफलम्

समग्राद्बन्धनादेतदुड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ।। ११ ।।

समस्त मुद्राबंधो में उड्डीयान बंध विशिष्ट माना जाता है । इस उड्डीयान बंध के साधन से स्वयं ही मुक्ति होती है ।। ११ ।।

जालन्धरबन्धः

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदयेन्यसेत् ।
जालन्धर कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।
जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ।। १२ ।।

(अब जालंधर बंध का लक्षण करते हैं—) कण्ठ का संकोचन करके ठोड़ी को हृदय पर रखना चाहिये । इसी जालंधर बंध के करने से सोलह प्रकार का आधार बंध होता है । जालंधर महामुद्रा मृत्यु का भी क्षय करने वाली है ।। १२ ।।

जालन्धरबन्धफलम्

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ।। १३ ।।

(जालन्धरबन्ध का फल बताते हैं—) सिद्ध हुआ जालंधर बंध योगियों को सिद्धिदायक है । छह मास तक जो अभ्यास करता है, वह सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।। १३ ।।

मूलबन्धविधिः

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः ।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।। १४ ।।

(मूलबंध की विधि बताते हैं—) वाम पैर की एड़ी से गुह्यस्थान

(योनिस्थान) का आकुंचन करे, पुनः नाभिग्रन्थी को मेरुदण्ड से यत्नपूर्वक दबाये ॥ १४ ॥

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥ १५ ॥

पुनः लिङ्ग को दायीं एड़ी से दृढ़ता से दबाये, यह जरा की विनाशक मुद्रा मूलबंध कही जाती है ॥ १५ ॥

मूलबन्धफलम्

संसारसमुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान् ।
विरलेसुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥

(अब मूलबन्ध का फल बताते हैं—) संसार सागर से पार होने की जो जन इच्छा करता है, वह एकांत स्थान में इस मुद्रा में स्थितमन होकर अभ्यास करें ॥ १६ ॥

अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

इस बंध के अभ्यास से अवश्य ही वायु की सिद्धि होती है । अतः निरालस्य होकर यत्नपूर्वक इसकी साधना करनी चाहिये ॥ १७ ॥

महाबन्धविधिः

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८ ॥

बायें पैर की एड़ी से पायुमूल का निरोध करना चाहिये तथा योगीजन को दायें पैर से बायीं एड़ी को प्रयत्नपूर्वक दबाना चाहिये ॥ १८ ॥

शनैः शनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनः ।
जालन्धरे धारयेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥ १९ ॥

इसके बाद शनैः-शनैः गुह्यस्थान का चाल न करें—चलायें और आकुञ्चन या सिकोड़ने की क्रिया करें। तथा प्राणवायु जालन्धर में धारण करें। यही महाबन्ध कहलाता है ॥ १९ ॥

महाबन्धस्यफलम्

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ॥ २० ॥

(अब महाबंध का फल बताते हैं—) जरा और मरण को दूर करने वाली महाबंध नामक यह मुद्रा सबसे श्रेष्ठ बंध है। इसके प्रसाद से सब इच्छाओं को साधना चाहिये ॥ २० ॥

महावेधविधिः

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१ ॥

(महावेध की विधि बताते हैं—) जिस प्रकार पुरुष के बिना नारी का रूप, यौवन और सुन्दरता (निरर्थक है), उसी प्रकार महावेध मुद्रा के बिना मूलबन्ध और महाबंध होते हैं ॥ २१ ॥

महाबन्धं समासाद्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२ ॥

प्रथम महाबंध मुद्रा को करे, पुनः उड्डीयान बंध मुद्रा द्वारा कुंभक प्राणायाम को करना चाहिये। इस प्रकार यही महाबंध मुद्रा कही जाती है, जो योगियों को सिद्धिदायक है ॥ २२ ॥

महावेधफलम्

महाबन्धमूलबन्धौ महावेध समन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥

(अब इसका फल बताते हैं—) महाबंध और मूलबंध के सहित महावेध मुद्रा को योग को जो प्रतिदिन करता है, वह योगी योगज्ञानी है ॥ २३ ॥

न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीय: प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवै: ॥ २४ ॥

वह न मृत्यु से भय करता है और न उसे जरा आती है । अत: योगी विशिष्टों द्वारा यह महावेधमुद्रा गोपनीय मानी गयी है ॥ २४ ॥

खेचरीमुद्रा

जिह्वाधो नाडीं सञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥

(अब खेचरी मुद्रा की विधि बताते हैं—) जिह्वा के नीचे की नाड़ी को छिन्न करके रसना को सदैव चलाना चाहिये । जिह्वा को मक्खन से दुहा करना चाहिये और लौहयन्त्र से खींचना चाहिये ॥ २५ ॥

एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तदागच्छति खेचरी ॥ २६ ॥

इस प्रकार नित्य अभ्यास से जिह्वा लम्बी हो जाती है । जब वह भ्रुवों के मध्य में पहुँच जाये तो खेचरी की ओर ले जाती है ॥ २६ ॥

रसनां तालुमध्ये तु शनै: शनै: प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

पुन: जिह्वा को तालु के मध्य में शनै: शनै: प्रवेश कराना चाहिये । जिह्वा को कपाल गुहर (तालु के मध्यस्थ गड्ढ़े) में उल्टी करके प्रविष्ट करके भ्रुवों के मध्य में दृष्टि को स्थित करे, यही खेचरी मुद्रा होती है ॥ २७ ॥

खेचरीमुद्राफलम्

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ।। २८ ।।

खेचरी मुद्रा का फल बताते हैं—इस मुद्रा से न तो मूर्च्छा, न क्षुक्षा, न तृष्णा, न आलस्य ही उत्पन्न होता है । और न रोग, न जरा, न मृत्यु ही होती है । अपितु शरीर देवता जैसा हो जाता है ।। २८ ।।

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ।। २९ ।।

शरीर को न अग्नि जला पाती है, न पवन सुखा पाती है, न जल गला पाता है और न सर्प डस सकता है ।। २९ ।।

लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम् ।
कपालवक्त्र संयोगे रसना रसमाप्नुयात् ।। ३० ।।

शरीर में सुन्दरता आ जाती है, और निश्चय ही समाधि सिद्ध होती है । कपाल और मुख के संयोग होने पर रसना के रसों की प्राप्ति हो जाती है ।। ३० ।।

नाना रस समुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तं कषायकम् ।। ३१ ।।

अनेक प्रकार के रसों का दिन-दिन अद्भुत आनंद प्राप्त होता है । प्रांरभ में लवण, क्षार का और तिक्त (तीखे) और कषाय का रसानुभव होता है ।। ३१ ।।

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च ।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।। ३२ ।।

तदुपरान्त नवनीत (मक्खन), घृत, दुग्ध, दही, मधु, द्राक्षा, और अमृत जैसे रसों की उत्पत्ति हो जाती है ।। ३२ ।।

विपरीतकरणीमुद्रा

नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३ ॥

(अब विपरीतकरी मुद्रा विधि बताते हैं—) नाभि के मूल में सूर्य बसते हैं और तालु के मूल में चन्द्रमा । जब सूर्य अमृत को ग्रस लेता है, तब नर मृत्यु के वश होता है ॥ ३३ ॥

(समीक्षा—(सूर्य नाभि में स्थित है तथा अमृत सहस्त्रारचक्र में (ब्रह्मरंध्र में) है । सूर्य द्वारा अमृतपान करने से मनुष्य की स्थिति में परिवर्तन हो जाता है ।)

ऊर्ध्वं च योजयेत् सूर्यञ्चन्द्रञ्च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४ ॥

सूर्य को ऊपर की ओर उठाना चाहिये तथा चन्द्रमा को नीचे की ओर ले आना चाहिये । इसी का नाम विपरीतकरी मुद्रा है, जो सब तंत्रों में गोपनीया कही गयी है ॥ ३४ ॥

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३५ ॥

(विपरीतकरी मुद्रा की विधि बताते हैं—) भूमि पर सिर रखकर हाथों को नीचे रखकर पैरों को ऊर्ध्व करके विपरीतकरी मुद्रा मानी गयी है ॥ ३५ ॥

विपरीतकरणीमुद्राफलम्

मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युञ्च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥ ३६ ॥

(विपरीतकरी मुद्रा का फल बताते हैं—) यह मुद्रा नित्य साधनी

चाहिये और जरामत्यु को नष्ट करना चाहिये। वह सब लोकों में सिद्ध होता है और प्रलय में भी दु:खी नहीं होता ॥ ३६ ॥

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥ ३७ ॥

(अब योनिमुद्रा की विधि बताते हैं—) पहले सिद्धासन लगाकर कान, नेत्र, नासिका, मुख को अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिकाओं से साधना (ढ़कना) चाहिये ॥ ३७ ॥

काकोभि: प्राणंसङ्कृष्य अपाने योजयेत्तत: ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधी: ॥ ३८ ॥

चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥ ३९ ॥

पुन: काकी मुद्रा से प्राणवायु को खींचकर अपान वायु में योजित करे। फिर सुधीजन षट् चक्रों का ध्यान करे और 'हुं' और 'हंस' इन दो मंत्रों से जो साक्षात् भुजंगिनी है, उस देवी (कुंडलिनी) को जगाये तथा जीव के सहित इस शक्ति (कुंडलिनी) को उठाकर सहस्त्रकमल (सहस्त्रारचक्र) में ले जाये ॥ ३८-३९ ॥

शक्तिमय: स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारञ्च चिन्तयेत् परमं सुखम् ॥ ४० ॥

इससे स्वयं शक्तिवान् होकर परं कल्याण का संयोग पाकर अनेक प्रकार के सुख, विहार और परं आनंद का चिन्तन करता है ॥ ४० ॥

शिवशक्तिसमायोगादेकान्ते भुवि भावयेत् ।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ॥ ४१ ॥

शिव (कल्याणमय) शक्ति के संयोग से भूमि पर एकान्त की भावनां करनी चाहिये । स्वयं परमानंद स्वरूप होकर 'अहं तत्व ही ब्रह्म है' यह भाव तब संभव होता है ॥ ४१ ॥

योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्ल्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥ ४२ ॥

योनिमुद्रा परं गोपनीय है । यह देवताओं को भी दुर्लभ है । सब प्रकार के लाभों की सिद्धि इससे संभव होती है और वही जन वस्तुतः समाधिस्थ होता है ॥ ४२ ॥

योनिमुद्राफलम्

ब्रह्महा भ्रूणहाचैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ ४३ ॥

(योनिमुद्रा फल बताते हैं—) ब्रह्मघाती, भ्रूणहत्यारा, मद्यपायी, गुरुपत्नी सेवी जैसे (पामरजन भी) योनिमुद्रा के पालन से इन पापों से लिप्त नहीं होते हैं अर्थात् इन पापों के दुष्प्रभाव से बहुत हद तक दूर हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ४४ ॥

जो भी घोर पाप और उपपाप हैं, वे सब योनिमुद्रा के (विधिवत) पालन से नष्ट हो जाते हैं । अतः यदि मुक्ति की इच्छा करनी है तो इस ुद्रा का अभ्यास करना चाहिये ॥ ४४ ॥

वज्रोणीमुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥ ४५॥

(वज्रोणिमुद्रा क्या है यह कहते हैं) कि करतलों को धरा पर रख करके दोनों पैरों और सिर को ऊपर उठाये ! शक्ति के जागरण के लिये तथा चिरजीवन (दीर्घजीवन) पाने के लिये मुनिजन वज्रोणिमुद्रा को कहते हैं ॥ ४५ ॥

वज्रोर्णामुद्राफलम्

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारकम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ ४६ ॥

(अब वज्रोणिमुद्रा का फल बताते हैं—) योगशास्त्र में यह योगियों की मुक्तिकारक वज्रोणि मुद्रा है । यह योगों में परं हितकारी और योगियों को सिद्धि देने वाली है ॥ ४६ ॥

एतद्योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यतिभूतले ॥ ४७ ॥

इस योग की कृपा से निश्चय ही बिन्दु सिद्धि (वीर्यसिद्धि) होती है और इस महायत्न बिन्दुसिद्धि के हो जाने पर भूतल पर कौन सा कार्य है जो सिद्ध नहीं होता ॥ ४७ ॥

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम् ॥ ४८ ॥

भोगों से युक्त पुरुष भी यदि इस मुद्रा का आचरण करता है, तो निश्चय ही सकल सिद्धि वह प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

शक्तिचालनीमुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४९ ॥

(अब शक्तिचालनी मुद्रा की विधि कहते हैं—) आत्मशक्ति मूलाधार में (शरीर में) सबसे बड़ा देवता—कुंडली शयन स्थिति में सर्पाकार साढ़े तीन वलयों (गोलाकारों) से युक्त है ॥ ४९ ॥

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ५० ॥

जब तक यह कुंडली शयनावस्था में है, तब तक जीव पशु के समान रहता है, तब तक ज्ञान भी नहीं होता है, (भले ही) कोटि उपाय किये जायें ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत् कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार कुंचिका से बंद द्वार को हठात् खोला जाता है, उसी प्रकार कुंडलिनी के जागने पर ब्रह्मद्वार को (भेदकर) जानना चाहिये ॥ ५१ ॥

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिस्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

नाभिस्थान को वस्त्र से लपेट कर किन्तु नग्न होकर बाहर (सार्वजनिक रूप से) नहीं, अपितु गोपनीय गृह में स्थित होकर शक्तिचालन का अभ्यास करना चाहिये ॥ ५२ ॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ।
एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥

एक हाथ लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा कोमल, श्वेत और सूक्ष्म (बारीक) वस्त्र नाभि से लपेटे । इस प्रकार वस्त्र को पुनः कटिभाग में बाँधना चाहिये ॥ ५३ ॥

भस्मना गात्रं संलिप्य सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात् ॥ ५४ ॥

भस्म से शरीर को लिप्त करके पुनः सिद्धासन लगाना चाहिये ।

पुन: नासाछिद्रों (दोनों) से वायु खींचकर अपानवायु के साथ मिलाना चाहिये ॥ ५४ ॥

तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्गच्छेत् सुषुम्णायां वायु: प्राकाशयेद्धठात् ॥ ५५ ॥

जब तक वायु सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर जाकर प्रकाशित हो, तब तक गुह्यस्थान (मलद्वार) का अश्विनी मुद्रा से धीरे-धीरे संकोचन करना चाहिये ॥ ५५ ॥

तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

तब श्वास वायु को रोककर कुंभक श्वास को धारण करे तो कुंडलिनी उर्ध्वमार्ग की ओर प्राप्त होती है-उठती है ॥ ५६ ॥

विना शक्तिंचालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥ ५७ ॥

विना शक्तिचालनी के योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती, शक्तिचालनी के अभ्यास को पहले करें, पुन: योनिमुद्रा का अभ्यास करें ॥ ५७ ॥

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥ ५८ ॥

(घेरण्ड ऋषि कहते हैं—) हे चण्डकापालि ! इस प्रकार शक्तिचालन मुद्रा मैंने तुम्हें बतायी । यह गोपनीय है, दिन-दिन इसका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५८ ॥

शक्तिचालनीमुद्राफलम्

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यसनंकार्यं योगिभि: सिद्धिकाङ्क्षिभि: ॥ ५९ ॥

यह मुद्रा परं गोपनीया है और जरामरण का नाश करती है । अत: सिद्धि चाहने वाले योगियों को इसका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५९ ॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धि: स्याद्रोगाणां सङ्क्षयो भवेत् ।। ६० ।।

जो योगी नित्य इसका अभ्यास करता है, उसके हाथ में सिद्धि आ जाती है । उसे विग्रह सिद्धि हो जाती है और उसके रोगों का क्षय हो जाता है ।। ६० ।।

ताडागीमुद्रा

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम् ।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।। ६१ ।।

पश्चिमोत्तान करके उदर को तालाब की आकृति के समान बनाये, यह ताडागी मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी है ।। ६१ ।।

माण्डूकीमुद्रा

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तन्माण्डूकीं मुद्रिकां विदु: ।। ६२ ।।

(अब मांडूकी मुद्रा को कहते हैं—) मुख को बंद करके जिह्वामूल का चालन करे, पुन: धीरे-धीरे अमृत का पान करे (सहस्रारचक्र के परमानंद का ध्यान करे) इसे विद्वानों ने मांडूकी मुद्रा कहा है ।। ६२ ।।

माण्डूकीमुद्राफलम्

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको य: कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ।। ६३ ।।

(इसका फल बताते हैं—) जो भी मांडूकी मुद्रा को करता है— वलित और पलित (त्वचा का सिकुड़ना तथा बालों का श्वेतहोना) इससे नहीं होता, तथा नित्य यौवन बना रहता है और केश पकते नहीं है ।। ६३ ।।

शाम्भवीमुद्रा

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। ६४ ।।

(शांभवी मुद्रा की विधि कहते हैं—) भोंहों के मध्य में दृष्टि डालते हुए सर्वदा मन को आत्मा में रमण करते हुए निरीक्षण करना चाहिये । यह सब विधानों में गोपनीया शांभवी मुद्रा है ।। ६४ ।।

शाम्भवीमुद्राफलम्

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।। ६५ ।।

(इसका फल कहते हैं—) वेद, शास्त्र और पुराण इस मुद्रा के समक्ष सामान्य गणिका जैसे हैं (गौण हैं) जबकि यह शांभवी मुद्रा कुलवधु के समान गोपनीय है ।। ६५ ।।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ।। ६६ ।।

जो जन शांभवी मुद्रा को जानता है, वह आदिनाथ है, वही स्वयं नारायण स्वरूप है, और वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हैं ।। ६६ ।।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर ।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्म न चान्यथा ।। ६७ ।।

शांभवी मुद्रा को (तत्वतः) जो जानता है, वह साक्षात् ब्रह्म स्वरूप है । यह पूर्ण सत्य है, अन्यथा की संभावना नही है ।। ६७ ।।

(समीक्षा—भावार्थ यह है कि शांभवी मुद्रा तन, मन, हृदय को परंशान्ति प्रदान करने वाली है । सब संतापों—तनावों को शांत करने वाली है । और जब मनुष्य के सब तनाव—घोर अंशाति शांत हो जायेगी तो ब्रह्मशक्ति (प्रजनन शक्ति) विष्णुशक्ति (परिवार समाज आदि की पालनाशक्ति) आदि विलक्षण और सुदृढ़ शक्तियाँ मनुष्य प्राप्त करता हैं ।)

पञ्चधारणामुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ६८ ॥

(पंचधारणा मुद्रा बताते हैं—) इस प्रकार शांभवी मुद्रा कही गयी, अब पंचधारण मुद्रा को सुनो । पंचधारणाओं को प्राप्त करके मनुष्य इस भूतल पर क्या नहीं प्राप्त कर सकता ? ॥ ६८ ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६९ ॥

इससे नरदेह का स्वर्गों में गमनागमन होता है । उसकी मनोगामी गति हो जाती है और खेचरत्व सिद्धि प्राप्त हो जाती है । यह सत्य है ॥ ६९ ॥

पार्थिवीधारणामुद्रा

यत्तत्त्वंहरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं
वेदास्तं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनम् ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारये-
देषास्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥ ७० ॥

(अब पार्थिवधारणा की विधि बताते हैं—) भूमि का जो तत्व हरिताल (हल्दी) जैसा पीला है, लकार से युक्त है, आकार चौकोर है, ऐसे उन (वेदास्त्रं) कमलासन ब्रह्मा के सहित हृदय में ध्यान करे । तब प्राणवायु को खींचकर पाँच घटी (दो घण्टा) तक उसे धारण करे । यह स्तंभकरी अधोधारणा भी कही जाती है । इससे धरती पर विजय हो जाती है ॥ ७० ॥

पार्थिवीधारणामुद्राफलम्

पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति च नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद् भुवि ॥ ७१ ॥

(इसका फल कहते हैं—) प्रतिदिन जो जन पार्थिवीधारण को करता है, वह मृत्युञ्जय हो जाता है, वह सिद्ध हो भूमि पर विचरता है ॥ ७१ ॥

आम्भसीधारणामुद्रा

शङ्खेन्दुप्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभम्
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेत्
एषादुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा ।। ७२ ।।

इसका वर्ण शंख और चन्दमा जैसा सुन्दर, कुन्दपुष्प जैसा धवल है । शोभायमान वकार बीज से युक्त अमृत की संज्ञा वाला है, जो सदा ही विष्णु शक्ति से युक्त है या विष्णु इसके देवता हैं । (इस स्वरूप का ध्यान जल तत्व में करते हुए) प्राण को खींचकर पाँच घटी (२ घण्टे) तक कुंभक में स्थिर हो, यही दुःसह तापों को नष्ट करने वाली आंभसी धारणा होती है ।। ७२ ।।

आम्भसीधारणामुद्राफलम्

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च गम्भीरे घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ।। ७३ ।।

इस श्रेष्ठ आम्भसी मुद्रा को जो जानता है, वह योगज्ञानी है । गम्भीर जल में उसका कभी मरण संभव नहीं होता ।। ७३ ।।

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ।। ७४ ।।

यह श्रेष्ठ मुद्रा प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है । इसके प्रकाश से सिद्धि की हानि होती है, यह मैं सत्य कहता हूँ ।। ७४ ।।

आग्नेयीधारणामुद्रा

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेत्
ऐषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ।। ७५।।

(अब आग्नेयी मुद्रा की विधि बताते हैं—) (यह मुद्रा अग्नितत्व में स्थित है) इसका स्थान नाभि और इन्द्रगोप (भगवान की गाय—बरसाती लालरंग का एक गोल कीड़ा) जैसा इसका तीन कोण वाला वर्ण है, तेजयुक्त दीप्त अरुण जैसी आभा है और रुद्र इसके देवता है। (इस स्वरूप का प्राणों को रोककर कुंभक में पाँच घटी (२घण्टा) तक चित्त में ध्यान करे। इससे संसार का भय दूर होता है, यह वैश्वानरी (आग्नेयी) धारणा है ॥ ७५ ॥

आग्नेयीधारणामुद्राफलम्

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदि पतति साधकः।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

प्रदीप्त और जलती हुई अग्नि में यदि साधक गिर जाये तो इस मुद्रा के प्रसाद से वह जीवन धारण करता है, न कि मृत्यु ॥ ७६ ॥

वायवीधारणामुद्रा

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेद्-
ऐषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७७ ॥

(अब वायवी धारणा की विधि कहते हैं—) इसका वर्ण भिन्न अंजन पुंज के समान, धुएँ के समान है, सत्व इसका गुण और यकार बीज है। स्वयं ईश्वर इसके देवता हैं। इसी स्वरूप का प्राणों को रोककर पाँचघटी (२ घण्टा) तक चित्त में ध्यान करे। आकाश में गमन इसी वायवी धारणा से होता है ॥ ७७ ॥

वायवीधारणामुद्राफलम्

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥ ७८ ॥

(फल बताते हैं—) यह श्रेष्ठ वायवी मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी है, इसके कारण वायुकोष से मृत्यु नहीं होती तथा यह आकाशगमन को देने वाली होती है ॥ ७८ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च चण्ड ते ॥ ७९ ॥

जिस किसी भी शठ या भक्तिहीन को इसे नहीं देना चाहिये । अन्यथा देने पर सिद्धि की हानि हो जाती है—यह सत्य कहता हूँ ॥ ७९ ॥

आकाशीधारणामुद्रा

यत् सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांश्चित्तान्वितां धारयेत्
एषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥ ८० ॥

(आकाशीधारणाविधि—) इसका वर्ण सिन्धु के जल के समान परं विस्तीर्ण भासित है । शिवदेवता सहित हकार इसका बीज है । प्राणों का पाँच घटी तक कुंभक में संयोजन करके इस स्वरूप का ध्यान करे तो यह आकाशी मुद्रा मोक्षद्वार का भेदन करने वाली होती है ॥ ८० ॥

आकाशीधारणामुद्राफलम्

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

जो साधक आकाशीमुद्रा की पूरी जानकारी से परिपूर्ण रहता है, वही सही रूप में योग को पहचानने वाला है, उसकी काल आने पर भी मृत्यु नही होती और प्रलय होने पर भी वह डगमगाता नहीं है ज्यों का त्यों स्थिर रहता है ॥ ८१ ॥

अश्विनीमुद्रा

आकुञ्चयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८२ ॥

गुदाद्वार का संकोचन (सिकोड़ना) तथा फैलाना बार-बार करे । यही अश्विनी मुद्रा है, जो शक्ति देने वाली है ॥ ८२ ॥

अश्विनीमुद्राफलम्

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

अश्विनी मुद्रा गुदारोगों को नष्ट करने वाली है । बल और पुष्टि करने वाली तथा अकालमृत्यु को हरने वाली है ॥ ८३ ॥

पाशिनीमुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढबन्धनम् ।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

पाशिनी मुद्रा—कण्ठ और पीठ में दोनों पैरों को डाले और दृढ़ता से इस आसन को बाँधे, यही पाशिनि मुद्रा है, जो कुंडलिनी शक्ति को जगाने वाली है ॥ ८४ ॥

पाशिनीमुद्राफलम्

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५ ॥

पाशिनी मुद्रा अत्यधिक बल और पुष्टि देने वाली है । सिद्धि चाहने वाले साधकों द्वारा इसे प्रयत्नपूर्वक साधना चाहिये ॥ ८५ ॥

काकीमुद्रा

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

(काकीमुद्रा विधि—) काकचंचु (कौवे जैसी चौंच) के मुख को करके धीरे-धीरे वायु को पान करे। यह सब रोग विनाशिनी काकी मुद्रा होती है॥ ८६ ॥

काकीमुद्राफलम्

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण न रोगी काकवद् भवेत्॥ ८७ ॥

काकीमुद्रा सब तन्त्रों में गोपनीय है। इसके प्रसाद से काकवत् नीरोग हो जाता है॥ ८७ ॥

मातङ्गिनीमुद्रा

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्॥ ८८ ॥

कण्ठ तक मग्न जल में स्थित होकर नासिकाछिद्रों से जल ग्रहण करे, पुनः मुख से निकाल दे तथा पुनः मुख से ग्रहण करना चाहिये॥ ८८ ॥

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥ ८९ ॥

पुनः उसका नासाछिद्रों से रेचन करे। यदि पुनः-पुनः ऐसा करे तो मातंगिनी मुद्रा जरामृत्यु का नाश करती है॥ ८९ ॥

मातङ्गिनीमुद्राफलम्

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते॥ ९० ॥

विरल निर्जन देश में एकाग्रमन से स्थित होकर मातंगिनी मुद्रा को करे तो हाथी के समान बली होता है॥ ९० ॥

यत्र यत्र स्थितोयोगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम्॥ ९१ ॥



वह योगी जहाँ-जहाँ स्थित होगा, वहाँ-वहाँ अत्यंत सुख को ग्रहण करता है । अत: सब प्रयत्नों से इसे साधना चाहिये ॥ ९१ ॥

भुजङ्गिनीमुद्रा

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ९२ ॥

(भुजंगिनी मुद्रा—) मुख को कुछ फैलाकर कण्ठ से वायु को पीना चाहिये । वह जरामृत्यु विनाशक भुजंगिनी मुद्रा होती है ॥ ९२ ॥

भुजङ्गिनीमुद्राफलम्

यावच्च उदरे रोगा अजीर्णादि विशेषतः ।
तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥ ९३ ॥

उदर में जो अजीर्णादि विशिष्ट रोग हैं, उन सबको, जहाँ भुजंगिनी मुद्रा होती है, शीघ्र ही समाप्त करती है ॥ ९३ ॥

मुद्राणांफलम्

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्ड ते शुभम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ॥ ९४ ॥

(घेरण्ड ऋषि बोले—हे चंडकापालि ! यह मुद्राविवरण मैंने तुमसे कहा है । यह सब सिद्धजनों का प्रिय और जरामृत्यु का विनाशक होता है ॥ ९४ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५ ॥

शठ या भक्तिहीन जिस किसी को भी यह नहीं देना चाहिये । देवताओं को भी यह दुर्लभ और प्रयत्नसहित गोपनीय है ॥ ९५ ॥

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ।। ९६ ।।

जो कोमल मन वाला हो, शांतचित्त हो, गुरुभक्ति परायण हो, कुलीन हो, उसी को यह मुद्राविधि देनी चाहिये, जो भोग मुक्ति की दात्री हैं ।। ९६ ।।

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम् ।। ९७ ।।

मुद्राओं का यह विवरण सर्वव्याधि विनाशक है और अभ्यासशील की जठराग्नि को बढ़ाने वाला है ।। ९७ ।।

न तस्य जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ।। ९८ ।।

उसकी न मृत्यु और जरादिक होता है । न अग्निजल का भय होता है, वायु का भय भी उसे कहीं नहीं होता ।। ९८ ।।

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ।। ९९ ।।

कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा आदि बीस प्रकार के रोग मुद्राओं के साधने से नष्ट होते हैं ।। ९९ ।।

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले ।। १०० ।।

अधिक क्या कहूँ ? चे चंडकापालि ! तुझे सार बताता हूँ कि (मुद्रा के योगियों को) सिद्धिदायक पृथ्वीतल पर अन्य कुछ नहीं है ।। १०० ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये मुद्राप्रयोगोनाम तृतीयोपदेशः ।।



अथ चतुर्थोपदेशः

अथ प्रत्याहारप्रकरणम्

घेरण्ड उवाच

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥ १ ॥

इसके बाद मैं उत्तम प्रत्याहार विषय को कहता हूँ। जिसके विशिष्ट ज्ञान से कामादि शत्रुओं का नाश होता है ॥ १ ॥

यतो यतो मनश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २ ॥

जहाँ-जहाँ मन जाता है, मन (वहाँ-वहाँ उतना ही) चञ्चल और अस्थिर होता है । अतः मन की चंचलता को (इस प्रत्याहार से) रोककर अपने वश में लाना चाहिये ॥ २ ॥

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमायकम् ।
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ३ ॥

पुरस्कार हो, तिरस्कार हो, कान के लिये अच्छा हो या बुरा हो, उस सबसे मन को रोककर अपने वश में ही लाना चाहिये ॥ ३ ॥

सुगन्धो वापि दुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मनः ।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ४ ॥

सुगंध हो या दुर्गन्ध हो, सूँघने में जो भी आये, मन उसमें चला जाता है, अतः मन को उससे लौटाये और अपने वश में लाना चाहिये ॥ ४ ॥

मधुराम्लकतिक्तादिरसं गतं यदा मनः ।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। ५ ।।

मीठा, खट्टा, तीखा आदि रसों में मन जब जाता है तो उससे मन को लौटाये और अपने वश में लाये ।। ५ ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये प्रत्याहारप्रयोगों नाम चतुर्थोपदेशः ।।



अथ पञ्चमोपदेशः

अथ प्राणायामप्रकरणम्

प्रणायामप्रयोग:

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम् ।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः ॥ १ ॥

इसके बाद प्राणायाम की जो विधि है, उसे मैं कहता हूँ । जिसके साधन मात्र से मनुष्य देवतुल्य हो जाता है ॥ १ ॥

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम् ।
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात् प्राणायामं च साधयेत् ॥ २ ॥

पहले स्थान, तब काल, फिर मिताहार, फिर नाड़ीशुद्धि (इन सब क्रियाओं को साध लेने) के बाद प्राणायाम को साधना चाहिये ॥ २ ॥

स्थाननिर्णय:

दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां जनान्तिके ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतश्चेत् सिद्धिं न भवेत् ॥ ३ ॥

दूर देश में, अरण्य में, राजधानी में, जनों के बीच में योग का आरम्भ न करे, इससे सिद्धि नहीं होती ॥ ३ ॥

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम् ।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत् ॥ ४ ॥

दूरदेश में विश्वास नहीं होता, अरण्य में रक्षा का अभाव होता है, नगर में करने से सार्वजनिक होता है, अतः इन तीनों स्थानों का निषेध करना चाहिये ॥ ४ ॥

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचीरैः परिवेष्टितम् ॥ ५ ॥

अच्छे स्थान में, धार्मिक राज्य में, अच्छे भोज्यादि के स्थान में, उपद्रवरहित (शान्त) स्थान में वहाँ एक कुटी चहारदीवारी से घिरी हुई हो ॥ ५ ॥

वापीकूपतडागं च प्राचीरंमध्यवर्ति च ।
नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम् ॥ ६ ॥

प्राचीर के अन्दर वापी, कूप, तालाब हो, न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो तथा कुटीर कीटादि से वर्जित हो ॥ ६ ॥

सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्रनिर्मितम् ।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥

तथा वहाँ कुटीर अच्छी प्रकार गोमय (गोबर) से लिप्त हो, इस प्रकार के गुप्त स्थानों में प्राणायाम अभ्यास करना चाहिये ॥ ७ ॥

कालनिर्णयः

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः ॥ ८ ॥

(काल निषेध बताते हैं—) हेमंत, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में योगारंभ नहीं करना चाहिये क्योंकि यह रोगदायक समय होता है ॥ ८ ॥

वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् ।
तथायोगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ ९ ॥

(योग का समय कौन सा है ?) वसन्त और शरद ऋतु में योग का आरंभ करना चाहिये । इससे योगी सिद्ध होता है तथा निश्चय ही रोगमुक्त होता है ॥ ९ ॥

चैत्रादिफाल्गुनान्ते च माघादिफाल्गुनान्तिके ।
द्वौ द्वौ मासौ ऋतुभागौ अनुभावश्चतुश्चतुः ॥ १० ॥

चैत्र से फाल्गुन के अन्त तक दो-दो महीनों में ऋतुएँ होती हैं । किन्तु एक-एक ऋतु का अनुभव चार-चार माहों में होता है ॥ १० ॥

वसन्तश्चैत्र वैशाखौ ज्येष्ठाषाढ़ौ च ग्रीष्मकौ ।
वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विनकार्तिकौ ।
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशिरो माघफाल्गुनौ ॥ ११ ॥

वसंत चैत्र और वैशाख में ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ-आषाढ़ में, वर्षा ऋतु श्रावण भाद्रपद में, शरदऋतु आश्विन, कार्तिक में, मार्गशीर्ष और पौष में हेमन्तऋतु तथा माघ, फाल्गुन में शिशिर ऋतु में होती है ॥ ११ ॥

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च यथोदितम् ।
माघादिमाधवान्तेषु वसन्तानुभवश्चतुः ॥ १२ ॥

अब मैं ऋतुओं का यथाप्रकार अनुभव बताता हूँ । माघमास से वैशाख तक वसंत का अनुभव होता है ॥ १२ ॥

चैत्रादि चाषाढान्तं च निदाघानुभवश्चतुः ।
आषाढादि चाश्विनान्तं प्रावृषानुभवश्चतुः ॥ १३ ॥

(इसी प्रकार) चैत्र से आषाढ़ तक ग्रीष्म का अनुभव होता है तथा आषाढ़ से आश्विन तक वषाऋतु का चार मास तक अनुभव होता है ॥ १३ ॥

भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदाऽनुभवश्चतुः ।
कार्तिकादिमाघमासान्तं हेमन्तानुभवश्चतुः ।
मार्गादिचतुरो मासान् शिशिरानुभवश्चतुः ॥ १४ ॥

भाद्रपद से मार्गशीर्ष तक शरदऋतु का अनुभव भी चार मास तक होता है, कार्तिक से माघ तक चार मास हेमंत का अनुभव, मार्गशीर्ष से फाल्गुन तक शिशिर का अनुभव विद्वानों ने कहा है ॥ १४ ॥

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगो भवेत् सिद्धो विनायासेन कथ्यते ॥ १५ ॥

वसंत या शरद में योगारम्भ का आचरण करे । इसमें अनायास ही योग सिद्ध होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १५ ॥

मिताहार:

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत् ।
नानारोगो भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिद्ध्यति ॥ १६ ॥

(आहार विषय बताते हैं—) जो मिताहार के बिना ही योगारंभ का आचरण करता है, वह अनेक रोगों वाला होता है, और कोई भी योग सिद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

ग्राह्याहार:

शाल्यन्नं यवपिण्डं वा गोधूमपिण्डकं तथा ।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम् ॥ १७ ॥

(योगारंभ के समय) शाली चावल, जौ का अन्न, गेहूँ अन्न, मूँग, उड़द या चना, स्वच्छ और भूसी रहित भोजन करे ॥ १७ ॥

पटोलं पनसं मानं कक्कोलं च शुकाशकम् ।
द्राढ़िकां कर्कटीं रम्भां डुम्बरीं कण्टकण्टकम् ॥ १८ ॥

परवल, कटहल, कंकोल, करेला, अरबी, ककड़ी, केला, गूलर, चौलाई आदि (का सेवन करे) ॥ १८ ॥

आमरम्भां बालरम्भां रम्भादण्डं च मूलकम् ।
वार्ताकी मूलकं ऋद्धिं योगी भक्षणमाचरेत् ॥ १९ ॥

आमरंभ, कच्ची गहर, केला का दण्ड और जड़, बैगन, मूली आदि औषधि योगी को खानी चाहिये ॥ १९ ॥

बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम् ।
पञ्चशाकं प्रशंसीयाद्वास्तूकं हिलमोचिकाम् ॥ २० ॥

कच्चा शाक, मौसमानुसार शाक, परवल का शाक (पत्ते), बथुआ, हिलमोचिका ये पाँच तरह के शाक प्रशंसनीय है ॥ २० ॥

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदरार्द्धविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ॥ २१ ॥

शुद्ध, मधुर, स्निग्धभोजन, आधे उदर ही प्रेमपूर्वक योगारंभ समय संयमित आहार (मिताहार) किया जाता है, ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥ २१ ॥

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे ॥ २२ ॥

अन्न मात्र आधा उदर ही खाये, तृतीय भाग अर्थात् उदर के एक चौथाई भाग में जल पीये,तथा चौथाई भाग वायु संचरण के लिये छोड़ देना चाहिये ॥ २२ ॥

अग्राह्याहारः

कट्वम्लं लवणं तिक्तं भृष्टं च दधि तक्रकम् ।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा ॥ २३ ॥

कटु, खट्टा, नमक, तीखा, भुने हुए, दधि, मट्ठा, बुरे शाक, मदिरा, छुहारा, कटहल (इनका योगारंभ के समय त्याग रखें) ॥ २३ ॥

कुलत्थं मसूरं पाण्डुं कूष्माण्डं शाकदण्डकम् ।
तुम्बीकोलकपित्थं च कण्टबिल्वं पलाशकम् ॥ २४ ॥

कुलथी, मसूर, पाण्डु का शाक, पेठा, शाक दण्ड, घीया, वैर, कैथ, कांटे वाली बेल व पलाश (इन्हें योगारंभ में नही सेवन करे) ॥ २४ ॥

कदम्बं जम्बीरं निम्बं लकुचं लशुनं विषम् ।
कामरङ्गं प्रियालं च हिङ्गुशाल्मलीकेमुकम् ।
योगारम्भे वर्जयेत्पथ्यं स्त्रीवह्निसेवनम् ।। २५ ।।

कदम्ब, जम्बीर, निम्ब, लकुच, लहशुन, विष, कमरख, प्रियाल (व्याज), हींग, शाल्मलि, गोभी, स्त्री, अग्नि इस सब पथ्य का सेवन योगारम्भ के समय वर्जित रखे ।। २५ ।।

नवनीतं घृतं क्षीरं गुड शर्क्रादि चैक्षवम् ।
पञ्चरम्भां नारिकेलं दाडिमंमसिवासरम् ।
द्राक्षां तु नवनीं धात्रीं रसमम्लंविवर्जितम् ।। २६ ।।

मक्खन, घी, शक्कर, गुड़, गन्ना, पाँच प्रकारीय केले, नारिकेल, अनार, सोंफ, मुनक्का, नवनी (नोंनिया), आँवला, और अम्लरस ये सब वर्जित हैं ।। २६ ।।

एलाजातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बु जाम्बुलम् ।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत् ।। २७ ।।

योगी की सेवनीय वस्तुयें—इलायची, चमेली, लोंग, बलकारकदवा, जामुन, जाम्बुल, हरड़, खजूर ये वस्तु योगी को भक्षण करनी चाहिये ।। २७ ।।

लघुपाकं प्रियं स्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम् ।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।। २८ ।।

शीघ पकने वाली प्रिय, स्निग्ध, धातुओं की पोषक वस्तु योगी भोजन में ले ।। २८ ।।

काठिन्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा ।
अतिशीतं चातिचोष्णं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ।। २९ ।।

काठिन्यपूर्ण, बुरी, पापकारिणी, बासी, अतिठण्डा, अतिगर्म भोजन योगी वर्जन करे—न करें ।। २९ ।।

प्रात:स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत् ॥ ३० ॥

प्रात: समय स्नान, उपवासादि कायाक्लेश, विधि रहित कार्य और एक समय आहार, निराहार रहना और एक प्रहर बाद खाना, ये सब नहीं करने चाहिये ॥ ३० ॥

एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत् ।
आरम्भे प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यं नित्यभोजनम् ।
मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार विधि विधान से प्राणायाम करना चाहिये । पहले आरम्भ में दूध,घी और नित्य भोजन करना चाहिये । मध्याह्न और सायंकाल दो बार योगी को भोजन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

नाडीशुद्धिः

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।
स्थलासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
नाड़ीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ३२ ॥

(अब नाड़ी शुद्धि की विधि कहते हैं—) कुशासन पर, मृगचर्म पर, व्याघ्रचर्म पर और कम्बल पर स्थल आसन पर समासीन होकर पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर नाड़ी शुद्धि करके प्राणायाम करे ॥ ३२ ॥

चण्डकापालिरुवाच

नाडीशुद्धिं कथं कुर्यान्नाड़ीशुद्धिस्तु कीदृशी ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्व दयानिधे ॥ ३३ ॥

(तब चण्डकापालि ने पूछा—) हे दयानिधे ! नाड़ीशुद्धि कैसे करनी चाहिये, नाड़ी शुद्धि कैसी होती है ? उस सबको मैं सुनना चाहता हूँ, अत: इसे बताइये ॥ ३३ ॥

घेरण्ड उवाच

मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव गच्छति ।
प्राणायामः कथं सिध्येत्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत् ।
तस्मादादौ नाड़ीशुद्धिं प्राणायामं ततोऽभ्यसेत् ।। ३४ ।।

(उत्तर में कहते हैं—) रक्तचर्मवसादि मल से युक्त नाड़ियों में पवन नहीं जा पाता है, तब प्राणायाम की सिद्धि कैसे होती है ? और तत्वज्ञान कैसे होता है ? जिससे नाड़ी शुद्धि को पहले और प्राणायाम बाद में करे ।। ३४ ।।

(विशेष—मलाकुलासु में कहीं-कहीं माला शब्द भी मिलता है । जिसका अर्थ 'माला की भाँति गुँथी हुई नाडियों में' होता है ।)

नाड़ीशुद्धिर्द्विधा प्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा ।
बीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुं धौतकर्मणा ।। ३५ ।।

नाड़ी सिद्धि भी दो प्रकार की समनु और निर्मनु कही गयी हैं— समनु को बीज मंत्र से और निर्मनु को धौतिकर्म से करना चाहिये ।। ३५ ।।

धौतकर्म पुरा प्रोक्तं षट्कर्मसाधने यथा ।
शृणुष्व समनुं चण्ड ! नाडीशुद्धिर्यथा भवेत् ।। ३६ ।।

षट्कर्म साधन में धौतिकर्म पहले कह दिया है । अब समनु नाड़ी शुद्धि जैसे होती है, वह सुनो ।। ३६ ।।

उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत् ।
गुर्वादिन्यासनं कुर्याद् यथैव गुरुभाषितम् ।
नाड़ीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायामविशुद्धये ।। ३७ ।।

योगी आसन पर बैठकर पद्मासन लगाये । गुरु आदि न्यास करके जैसा गुरु ने सिखाया है, उस प्रकार प्राणायाम सिद्धि हेतु, नाड़ी शुद्धि करे ।। ३७ ।।

वायुबीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजसम् ।
चन्द्रेण पूरयेद्वायुं बीजैः षोडशकैः सुधीः ।। ३८ ।।

उस वायुबीज का ध्यान करके जो धूम और तेज युक्त है, सोलह बीज को जपते हुए चन्द्र मार्ग (वामनासापुट) से वायु को खींचना चाहिये ।। ३८ ।।

चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत् ।। ३९ ।।

तथा ६४ बार कुम्भक के समय (प्राणायाम को) धारण करे । पुनः ३२ बार उच्चारण करते हुए सूर्यनाड़ी (दायें नासा पुट) से वायु का रेचन करे ।। ३९ ।।

नाभिमूलाद्वह्निमुत्थाप्य ध्यायेत्तेजोऽवनीयुतम् ।
वह्निबीजषोडशेन सूर्यनाड्या च पूरयेत् ।। ४० ।।

नाभिमूल से अग्नि को उठाकर भूमि तत्व सहित उस तेज का ध्यान करे । सोलह बार अग्निबीज 'रं' जपते हुए सूर्य नाड़ी से पवन को पूर्ण करे ।। ४० ।।

चतुःषष्ट्या च मात्रया कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं शशिनाड्या च रेचयेत् ।। ४१ ।।

चौंसठ बार जपते हुए कुंभक से धारण करे, और बत्तीस बार से चन्द्रनाड़ी से उसका रेचन करे ।। ४१ ।।

नासाग्रे शशिधृग्बिम्बं ध्यात्वा ज्योत्स्नासमन्वितम् ।
ठं बीजंषोडशेनैव इडया पूरयेन्मरुत् ।। ४२ ।।

फिर नासिका के अग्रभाग में चन्द्रिका से युक्तचन्द्र का ध्यान करके 'ठं' बीज को सोलह बार जपते हुए इड़ा से वायु पूरक करे ।। ४२ ।।

चतुःषष्ट्या मात्रया च वं बीजेनैव धारयेत् ।
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाड़ीधौतं विभावयेत् ।
लकारेण द्वात्रिंशेन दृढं भाव्यं विरेचयेत् ।। ४३ ।।

चौंसठ बार 'वं' बीज को जपते हुए धारण करे । (नासिका के अग्रभाग में मानो) अमृत नित्य गिरता है, उसका ध्यान करके नाड़ी धौति की भावना करनी चाहिये । तथा बत्तीस बार लकार बीज (ल) की भावना करते (जपते) रेचन करे ॥ ४३ ॥

एवं विधां नाड़ीशुद्धिं कृत्वा नाड़ी विशोधयेत् ।
दृढ़ो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार नाड़ी शुद्धि करके नाड़ी का शोधन करना चाहिये । तथा दृढ़ता से आसन लगाकर प्राणायाम करना चाहिये ॥ ४४ ॥

कुम्भकस्यभेदाः

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भिकाः ॥ ४५ ॥

(प्राणायाम के प्रकार बताते हैं—) सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, केवली ये आठ प्रकारीय कुंभक प्राणायाम होते हैं ॥ ४५ ॥

सहितकुम्भकः

सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्चनिगर्भकः ।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निगर्भो बीजवर्जितः ॥ ४६ ॥

सहित कुंभक दो प्रकार का कहा गया है—सगर्भ और निर्गर्भ । सगर्भ को बीजमंत्र का उच्चारण करते हुए और निगर्भ को बीज का उच्चारण न करते हुए प्राणायाम करे ॥ ४६ ॥

सगर्भः

प्राणायामं सगर्भं च प्रथमं कथयामि ते ।
सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
ध्यायेद्विधिं रजोगुणं रक्तवर्णमवर्णकम् ॥ ४७ ॥

सगर्भ प्राणायाम मैं प्रथम कहता हूँ। सुखासन में बैठकर प्राङ्मुख या उत्तर मुख होकर रजोगुण रूप रक्तवर्ण और अ वर्ण स्वर का ध्यान करे ॥ ४७ ॥

इडया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः ।
पूरकान्ते कुम्भकाद्ये कर्तव्यस्तूड्डीयानकः ॥ ४८ ॥

सोलहबार जपते हुए वामनासा से वायु पूरित करे, और पूरक के अंत में कुंभक के पहले (अर्थात् वायु खींचने के बाद) उड्डीयान करना चाहिये ॥ ४८ ॥

सत्त्वमयं हरिंध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम् ।
चतुःषष्ट्या च मात्रया कुम्भकेनैव धारयेत् ॥ ४९ ॥

पुनः उकार स्वरूप कृष्णवर्ण सत्वगुणरूप विष्णु का ध्यान करके चौंसठ बार जप से कुंभक से धारण करे ॥ ४९ ॥

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद्विधिनाः पुनः ॥ ५० ॥

पुनः मकार स्वरूप शुक्लवर्ण रूप तमोमय शिव का ध्यान करके बत्तीस बार जप विधि से रेचन करना चाहिये ॥ ५० ॥

पुनः पिङ्गलयापूर्य कुम्भकेनैव धारयेत् ।
इडया रेचयेत् पश्चात् तद्बीजेन क्रमेण तु ॥ ५१ ॥

फिर दायें छिद्र से पूरक करके कुंभक से धारण करे, पुनः उसी बीज से वामछिद्र से रेचन करे ॥ ५१ ॥

अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत् ।
पूरकान्ते कुम्भकांते धृतनासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैः तर्जनीमध्यमे विना ॥ ५२ ॥

अनुलोम विलोम से बार-बार इसे साधना चाहिये । पूरकान्त और कुम्भकान्त में दोनों नासापुटों को कनिष्ठिकाअनामिका और अंगुष्ठ इन्हीं तीनों से तथा तर्जनी और मध्यमा के बिना ही (प्राणायाम करे) ।। ५३ ।।

निगर्भः

प्राणायामो निगर्भस्तु विना बीजेन जायते ।
एकादिशतपर्यन्तं पूरककुम्भकरेचनम् ।। ५३ ।।

निगर्भ प्राणायाम बिना बीज के ही हो जाता है । इस प्रकार पूरक, कुंभक और रेचक कुल एक से लेकर सौ तक मात्रायें होती हैं ।। ५३ ।।

उत्तमा विंशतिर्मात्रा षोडशी मात्रा मध्यमा ।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधा स्मृताः ।। ५४ ।।

उत्तम प्राणायाम बीस मात्रा वाला, मध्यम सोलह मात्रा वाला तथा अधम बारह मात्रा वाला इस प्रकार तीन प्राणायाम हैं ।। ५४ ।।

अधमाज्जायते घर्मो मेरुकंपं च मध्यमात् ।
उत्तमाच्च भूमित्यागस्त्रिविधंसिद्धिलक्षणम् ।। ५५ ।।

अधम प्राणायाम से घर्म (गर्मी) होती है, मध्यम से मेरुदण्ड में कंपन और उत्तम से भूमि त्याग (भूमि से ऊपर उठना संभव) होता है । इस प्रकार (प्राणायाम का) सिद्धि लक्षण है ।। ५५ ।।

प्राणायामात् खेचरत्त्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम् ।
प्राणायामाद्बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी ।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ।। ५६ ।।

प्राणायाम से खेचरत्व प्राप्त होता है, प्राणायाम से रोगनाश होता है, प्राणायाम से बोधशक्ति प्राप्त होती है, प्राणायाम से ज्ञान प्राप्ति और चित्त में आनंद होता है । प्राणायाम करने वाला मनुष्य अवश्य सुखी होता है ।। ५६ ।।

सूर्यभेदकुम्भकः

घेरण्ड उवाच

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं शृणु ।
पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत् ॥ ५७ ॥

(सूर्यभेदक कुंभक विधि कहते हैं—) सहित कुंभक (ऊपर) बताया गया है । अब सूर्य भेदक प्राणायाम को सुनो—प्रथम दायें छिद्र से पूरक को यथा शक्ति करे ॥ ५७ ॥

धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः ।
यावत् स्वेदं नखकेशाभ्यां तावत्कुर्वतु कुम्भकम् ॥ ५८ ॥

पुनः यत्नपूर्वक जालंधर मुद्रा से कुंभक धारण करे । जब तक कि नखकेशों से पसीना न आये, तब तक कुंभक को करे ॥ ५८ ॥

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ५९ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पंचप्राण हैं । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय ये पाँच पवन होते हैं ॥ ५९ ॥

हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥ ६० ॥

हृदय में नित्य प्राण गमन करता है, गुदा में अपान, नाभि में समान, कंठमध्य में उदानवायु (गमन करता है) ॥ ६० ॥

व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥ ६१ ॥

व्यानवायु पूर्ण शरीर में व्यापता है । ये पंच प्राणादिवायु प्रमुख हैं और नागादि पाँच वायु गौण हैं ॥ ६१ ॥

तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम् ।
उद्‌गारे नाग आख्यातःकूर्मस्तून्मीलने स्मृतः ॥ ६२ ॥
कृकलः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ॥ ६३ ॥

(नागादि वायुओं के स्थान बताते हैं—) उनमें पाँच वायुओं के स्थान मैं बताता हूँ। डकार में नाग वायु कही है, आँख उन्मीलन में कूर्म कही है, कृकल छींकने में, जंभाई में देवदत्त पवन और सर्वव्यापक धनंजय पवन मरने पर भी नहीं छोड़ती है ॥ ६२-६३ ॥

नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम् ।
क्षुत्तृषं कृकलश्चैव जृम्भणं चतुर्थेन तु ।
भवेद्धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत् ॥ ६४ ॥

नाग चैतन्य को ग्रहण करती है, कूर्म निमेष को, क्षुधा और प्यास को कृकल, तथा जृम्भण को देवदत्त पवन ग्रहण करती है, धनंजय पवन एक क्षण को भी शरीर से बाहर नहीं होती है ॥ ६४ ॥

सर्वे ते सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत् ।
ईडया रेचयेत् पश्चाद् धैर्येणाखण्डवेगतः ॥ ६५ ॥

वे सारे सूर्यभेदक प्राणायाम नाभि से उठाकर धैर्य से वेगपूर्वक वामनासापुट से रेचन करे ॥ ६५ ॥

पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि ।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनः पुनः ॥ ६६ ॥

पुनः दायें नासापुट से श्वास खींचकर यथाविधि कुंभक करके क्रम से रेचन करके बार-बार साधन करे ॥ ६६ ॥

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः ।

बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्धयेत् ।
इति ते कथितं चण्ड सूर्यभेदनमुत्तमम् ।। ६७ ।।

(सूर्यभेदक कुंभक फल कहते हैं—) सूर्यभेदक कुंभक जरामृत्यु का विनाशक है, यह कुंडलिनी शक्ति और जठराग्नि को बढ़ाने वाला है । इस प्रकार यह उत्तम सूर्यभेदक प्राणायाम कहा गया है ।। ६७ ।।

उज्जार्याकुम्भकः

नासाभ्यां वायुमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य वायुं वक्त्रे च धारयेत् ।। ६८ ।।

(उज्जायी कुंभक विधि बताते हैं—) नासापुटों से वायु खींचकर वायु को मुख से धारण करे । हृदय और गले के पवन को खींचकर मुख के मध्य में धारण करे ।। ६८ ।।

मुखं प्रक्षाल्य सवन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः ।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः ।। ६९ ।।

पुनः मुख धोकर वन्दन करके जालंधर को करे । फिर कुंभक को यथाशक्ति धारण करें, पुनः रेचन करे ।। ६९ ।।

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत् कफरोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकम् ।। ७० ।।

उज्जायी कुंभक को करके सब कार्यों को साधना चाहिये इससे कफरोग, वायु और अजीर्ण नहीं होता ।। ७० ।।

आमवातः क्षयः कासो ज्वरप्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः ।। ७१ ।।

आमवात, क्षय, कास, ज्वर, प्लीहा भी (उज्जायी कुंभक को साधने से) नहीं होता । मनुष्य जरामृत्युविनाशक उज्जायी प्राणायाम को साधे ।। ७१ ।।

शीतलीकुम्भकः

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः ॥ ७२ ॥

(उज्जायी कुंभक की विधि बताते हैं—) जिह्वा से धीरे-धीरे वायु को खींचकर उदर में भरे । पुनः क्षणभर कुंभक करके नासाछिद्रों से रेचन करे ॥ ७२ ॥

सर्वदा साधयेद्योगी शीतलीकुम्भकं शुभम् ।
अजीर्णं कफपित्तञ्च नैव तस्य प्रजायते ॥ ७३ ॥

यह शीतली कुंभक योगी को शुभदायक है, अतः इसे साधना चाहिये । क्योंकि अजीर्ण, कफ और पित्त उसे नहीं होता है ॥ ७३ ॥

भस्त्रिकाकुम्भकः

भस्त्रैव लोहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत् ।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार लुहारों की धौंकनी क्रम से वायु को खींचती है, वैसे ही धीरे-धीरे वायु को नासाछिद्रों से भरना चाहिये ॥ ७४ ॥

एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम् ।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥ ७५ ॥

इस प्रकार बीस बार करके कुंभक करना चाहिये । तब अंत में पूर्वोक्त विधि से वायु को चलाये (निकालना) चाहिये ॥ ७५ ॥

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः ।
न च रोगो न क्लेशश्च आरोग्यं च दिने दिने ॥ ७६ ॥

इस भस्त्रिका कुंभक को बुद्धिमान तीन बार साधे । इससे न रोग और न क्लेश होता है तथा दिन-दिन आरोग्य प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

भ्रामरीकुम्भकः

अर्धरात्रे गते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरककुम्भकम् ॥ ७७ ॥

(भ्रामरी कुंभक विधि बताते हैं—) आधी रात्रि होने पर योगी प्राणियों के शब्दों के पूर्ण शान्त होने पर हाथों से कान बन्दकर पूरक और कुंभक करे ॥ ७७ ॥

शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम् ।
प्रथमं झिञ्झीनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥ ७८ ॥

तब दायें कान से आंतरिक नाद को सुने । प्रथम तो झींगुरों का सा नाद और उसके परे वंशीनाद (सुनायी देगा) ॥ ७८ ॥

मेघझर्झरभ्रमरी घण्टाकांस्यं ततः परम् ।
तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः ॥ ७९ ॥

उसके बाद मेघनाद, फिर झर्झर (झांझ) का नाद, फिर भ्रमरी नाद, फिर घंटा और काँसे के पात्र का नाद, पुनः तुरइनाद, भेरी-मृदंग और नगाड़ों का नाद सुनायी देगा ॥ ७९ ॥

एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यसात् ।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥ ८० ॥

इस प्रकार अनेक प्रकार का नाद नित्य अभ्यास से सुनाई देता है। यह नाद अनाहत रूप से सुनायी देता है और उस शब्द की अद्भुत ध्वनि होती है ॥ ८० ॥

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योति ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एवं च भ्रामरीसिद्धिः समाधिसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८१ ॥

उसी ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति है और उसी ज्योति के अन्तर्गत मन है। वह मन उस परमपद विष्णु में मिल जाये तो यही भ्रामरी सिद्धि समाधि सिद्धि को प्राप्त हो जाती है ॥ ८१ ॥

जपादष्टगुणं ध्यानं ध्यानादष्टगुणं तपः ।
तपसोऽष्टगुणं गानं गानात्परतरं नहि ॥ ८२ ॥

जप से आठ गुना ध्यान, ध्यान से आठगुना तप, तप से आठगुना गान और गान से गुना (अधिक) अन्य कोई नही है ॥ ८२ ॥

मूर्च्छाकुम्भकः

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम् ।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥ ८३ ॥

(मूर्छा कुम्भक विधि बताते हैं—) सुख से कुम्भक करके और मन को भ्रुवों के बीच में सब विषयों से हटाकर मन की मूर्छा को ही मूर्च्छा कहा है। इस मन के आत्मा में योग से निश्चय आनन्द होता है ॥ ८३ ॥

केवलीकुम्भकः

हङ्कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ॥ ८४ ॥

(केवली कुम्भक की विधि—) 'हं' बीज से वायु बाहर जाती है, 'स' कार से वायु प्रवेश करती है। इक्कीस हजार छ:सौ दिन रात्रि में सर्वदा जीव अजपा गायत्री को जपता है ॥ ८४ ॥

मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदि पङ्कजे ।
तथा नासापुटद्वन्द्वे त्रिभिर्हंससमागमः ॥ ८५ ॥

मूलाधार में, हृदय कमल में और नासिका छिद्रों की दोनों नाड़ियों में 'हं' बीज के जप का आवागमन होता है ॥ ८५ ॥

षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम् ।
देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावाद् द्वादशाङ्गुलिः ॥ ८६ ॥

छह अंगुलि के बराबर शारीरिक कर्म में वायु का स्वभाव होता है, देह से बाहर निकलने पर बारह अंगुलि होता है ॥ ८६ ॥

गायने षोडशाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा ।
चतुर्विंशाङ्गुलिः पस्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः ।
मैथुने षट्त्रिंशद् व्यायामे च ततोधिकम् ॥ ८७ ॥

गायन में १६ अंगुलि, भोजन में २० अंगुलि, मार्ग में चलने में २४ अंगुलि, नींद में ३० अंगुलि, रति में ३६ अंगुलि और परिश्रम में और अधिक होता है ॥ ८७ ॥

स्वभावेऽस्य गतेर्न्यूने परमायुः प्रवर्धते ।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते ॥ ८८ ॥

स्वाभाविक रूप में इसकी गति कम होती है तो आयु बढ़ती है । यदि अन्तर्गत वायु अधिक चलती है, तो आयु का क्षय होता है ॥ ८८ ॥

तस्मात् प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ।
वायुना घट सम्बन्धे भवेत् केवलकुम्भकम् ॥ ८९ ॥

इसलिये प्राण में स्थित देह में मरण नहीं होता है, वायु से शरीर सम्बध में केवल कुम्भक होता है ॥ ८९ ॥

यावज्जीवो जपेन्मन्त्रमजपासङ्ख्यकेवलम् ।
अद्यावधि धृतं सङ्ख्याविभ्रमं केवलीकृते ॥ ९० ॥

जब तक जीये, तक तक केवल अजपा को संख्यावत जपे । अब

तक जो संख्या (मात्रा) बतायी है, उस प्रकार विभ्रम और केवली करने पर (सिद्धि प्राप्त होती है) ॥ ९० ॥

अत एव हि कर्तव्यः केवलीकुम्भको नरैः ।
केवली चाजपासङ्ख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥ ९१ ॥

अतएव मनुष्यों को केवल कुम्भक करना चाहिये । अजपा को दुगना करके केवली करने से मन प्रसन्न होता है ॥ ९१ ॥

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ।
एकादिकचतुःषष्टिं धारयेत् प्रथमे दिने ॥ ९२ ॥

नासाछिद्रों से वायु को खींचकर केवल कुम्भक करना चाहिये । प्रथम दिन ६४ बार (इस प्राणायाम को) धारण करे ॥ ९२ ॥

केवलीमष्टधां कुर्याद् यामे यामे दिने दिने ।
अथवा पञ्चधा कुर्याद् यथा तत् कथयामि ते ॥ ९३ ॥

केवल कुम्भक प्रतिदिन आठ बार प्रहर-प्रहर में करना चाहिये अथवा पाँच बार (प्राणायाम साधना) करे, जैसा मैं तुमसे बताता हूँ ॥ ९३ ॥

प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके ।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने ॥ ९४ ॥

प्रातः दोपहर सायं, और मध्यरात्रि के चतुर्थ प्रहर में दिन-प्रतिदिन तीनों संध्याओं में समान संख्या में (इसे करना चाहिये) ॥ ९४ ॥

पञ्चवारं दिने वृद्धिर्वारैकं च दिने तथा ।
अजपापरिमाणं च यावत् सिद्धिः प्रजायते ॥ ९५ ॥

दिन में एक बार और पाँच बार वृद्धि करते हुए यह अजपा संख्या जब तक सिद्धि हो (तब तक करे) ॥ ९५ ॥

प्राणायामं केवलीं च तदा वदति योगवित् ।
केवली कुम्भके सिद्धे किन्न सिद्ध्यति भूतले ।। ९६ ।।

केवली प्राणायाम को (सिद्ध करके) योगी योगवित् होता है । इस केवली कुम्भक के सिद्ध होने पर भूत़ल पर क्या नहीं सिद्ध होता ?।। ९६ ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये प्राणायामप्रयोगो नाम पञ्चमोपदेशः ।।

अथ षष्ठोपदेशः

अथ ध्यानयोग प्रकरणम्

ध्यानस्य भेदाः

घेरण्ड उवाच

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः ।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा ।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डलीपरदेवता ।। १ ।।

(अब ध्यानयोग का वर्णन करते हैं—) ध्यान के स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म ये तीन प्रकार कहे हैं । स्थूल मूर्तिमय कहा गया है, ज्योति तेजस्वरूप तथा सूक्ष्म बिन्दुमय ब्रह्म है, जो कुंडली से परे देवता है ।। १ ।।

(समीक्षा—बिन्दुमय ध्यान कुंडलिनी शक्ति से जाग्रत होने वाला ध्यान है । अतः कुंडली परादेवता कहा है ।)

स्थूलध्यानम्

स्वकीयहृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम् ।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नं वालुकामयम् ।। २ ।।

(विधि बताते हैं—) अपने हृदय में उत्तम अमृत समुद्र का ध्यान करे । उसके मध्य में बालुकामय रत्नों से परिपूर्ण रत्नदीप का ध्यान करे ।। २ ।।

चतुर्दिक्षु निम्बतरुः बहुपुष्पसमन्वितः ।
निम्बो पवनसं कूलेवेष्टितं परिखा इव ।। ३ ।।

उसके चारों ओर निम्ब के वृक्ष अनेक पुष्पों से सुशोभित हैं । निम्ब वन के पुष्प मानो खाई जैसे हैं ।। ३ ।।

मालतीमल्लिकाजातीकेशरैश्चम्पकैस्तथा ।
पारिजातैः स्थलपद्मैर्गन्धामोदितदिङ्मुखैः ॥ ४ ॥

तथा मालती, मल्लिका, चमेली, केशर, चंपा, पारिजात (बकायन) और स्थल कमलों की सुगंध से सब दिशायें (सुगंधित है, ऐसा ध्यान करे) ॥ ४ ॥

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम् ।
चतुःशाखाचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम् ॥ ५ ॥

उसके मध्य में योगी कल्पवृक्ष का स्मरण करे, उसमें चारों वेद नित्य फल, फूलों से समन्वित हैं ॥ ५ ॥

भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च ।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपम् ॥ ६ ॥

वहाँ भ्रमर, कोयल गूँज रहे है और बोल रहे हैं, वहाँ स्थिर होकर (ध्यानस्य होकर) मणिमण्डप का (ध्यान करे) ॥ ६ ॥

तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम् ।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद् यद्ध्यानं गुरुभाषितम् ॥ ७ ॥

उसके मध्य योगी मनोहर पलंग का ध्यान करे । तथा गुरु-उक्त ध्यान और इष्ट देवता का ध्यान करे ॥ ७ ॥

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः ॥ ८ ॥

जिस देव का जो भूषण और वाहन है, उसका नित्य ध्यान करे, यही स्थूल ध्यान कहा गया है ॥ ८ ॥

प्रकारान्तरेण स्थूलध्यानम्

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत् ।
विलग्नसहितं पद्मं द्वादशैर्दलसंयुतम् ॥ ९ ॥

(प्रकारान्तर स्थूलध्यान बताते हैं—) बारह पत्तों से युक्त एक कमल सहस्रार नामक महापद्म में स्थित है, कर्णिका में उसका ध्यान करे ।। ९ ।।

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्बीजभाषितम् ।
हसक्षमलवरयूं हसखफ्रें यथाक्रमम् ।। १० ।।

वह शुक्ल वर्ण, तेजोमय, ह,ल,क्ष,म,ल,व,र,यूं,ह, स,खफें इन द्वादशबीजों से भूषित (यह कमल है) ।। १० ।।

तन्मध्ये कर्णिकायां तु अकथादि रेखात्रयम् ।
हलक्षकोणसंयुक्तं प्रणवं तत्र वर्तते ।। ११ ।।

उसके मध्य में कर्णिका में अ,क,थ, ये तीन रेखायें ह,ल,क्ष इन तीन से युक्त ॐकार विराजित है ।। ११ ।।

नादबिन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम् ।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते ।। १२ ।।

नादबिन्दु से युक्त मनोहर पीठ का वहाँ ध्यान करे, उसके ऊपर हंस का जोड़ा है और वहाँ पादुका स्थित हैं ।। १२ ।।

ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम् ।
श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम् ।। १३ ।।

वहाँ द्विभुजाओं से शोभित और त्रिनेत्र, श्वेताम्बरधारी, श्वेत गंध का लेपन जिन्होंने किया है, ऐसे गुरुदेव का ध्यान करे ।। १३ ।।

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम् ।
एवं विधगुरुध्यानात् स्थूलध्यानं प्रसिध्यति ।। १४ ।।

श्वेतपुष्प की माला वे पहने हैं, लाल वर्ण की शक्ति से सुशोभित हैं, इस प्रकार गुरु के ध्यान से स्थूल ध्यान सधता है ।। १४ ।।

ज्योतिर्ध्यानम्

घेरण्ड उवाच

कथितं स्थूलध्यानं तु तेजोध्यानं शृणुष्व मे ।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च ।। १५ ।।

(ज्योतिध्यान की विधि बताते हैं—) स्थूलध्यान कहने के बाद अब ज्योतिध्यान को सुनो, जिसके ध्यान से योगसिद्धि और आत्मसिद्धि का प्रत्यक्ष होता है ।। १५ ।।

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणी ।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः ।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम् ।। १६ ।।

मूलाधार में सर्पाकार कुण्डलिनी है । वहाँ दीपज्योति के समान जीवात्मा विद्यमान है । वहाँ तेजोमय ब्रह्म का ध्यान करें, जो परात्पर है (पर से भी पर है) ।। १६ ।।

प्रकारान्तरेण ज्योतिर्ध्यानम्

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम् ।
ध्यायेत् ज्वालावतीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि ।। १७ ।।

(प्रकारान्तर से ज्योतिध्यान विधि कहते हैं—) भ्रुवों के मध्य और मन के ऊपर प्रणवात्मक जो तेज है, वही ज्वालावली युक्त जो ध्यान है, उसका ध्यान करे ।। १७ ।।

सूक्ष्मध्यानम्

घेरण्ड उवाच

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं शृणुष्व मे ।
बहुभाग्यवशाद् यस्य कुण्डली जाग्रती भवेत् ।। १८ ।।

हे चण्डकापालि ! तेजोध्यान कहने के बाद अब सूक्ष्मध्यान को मैं कहता हूँ । वह भाग्यवान् है, जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है ।। १८।।

आत्मना सहयोगेन नेत्ररन्ध्राद्विनिर्गता ।
विहरेद् राजमार्गे च चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।। १९।।

(तब) नेत्ररंध्रों से निकलकर आत्मा के योग से राजमार्ग में विहार करता है और चंचलता के कारण दिखलायी नहीं देता है ।। १९ ।।

शाम्भवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिध्यति ।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ।। २० ।।

योगी इसे शांभवी मुद्रा के ध्यानयोग से सिद्ध करता है । यह सूक्ष्मध्यान देवों को भी दुर्लभ और गोपनीय है ।। २० ।।

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम् ।। २१ ।।

स्थूलध्यान से सौ गुना यह तेजोध्यान कहा जाता है और तेजोध्यान से लक्षगुना पर से भी पर यह सूक्ष्मध्यान है ।। २१ ।।

इति ते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभम् ।
आत्मा साक्षाद् भवेद् यस्मात्तस्माद्द्ध्यानं विशिष्यते ।। २२ ।।

इस प्रकार हे चण्ड ! यह दुर्लभ ध्यानयोग कहा है । इससे आत्मा का साक्षात्कार होता है, अतः यह ध्यान सबसे विशेष कहा जाता है ।। २२ ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये ध्यानयोगवर्णनं नाम षष्ठोपदेशः ।।



अथ सप्तमोपदेशः

अथ समाधियोगप्रकरणम्

समाधियोगविधिः

समाधिश्च परो योगो बहुभाग्येन लभ्यते ।
गुरोः कृपाप्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः ।। १ ।।

समाधि का श्रेष्ठयोग बहुत भाग्य से प्राप्त होता है । गुरु कृपा प्रसाद से और गुरुभक्ति से यह प्राप्त होता है ।। १ ।।

विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः ।
दिने दिने यस्य भवेत् स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः।। २ ।।

जिसे विद्या में प्रतीति हो, स्वगुरु में प्रतीति हो, आत्मा में भी प्रतीति हो और मन का प्रबोध हो और दिन-दिन जिसे यह होता है, वही सुन्दर अभ्यास को प्राप्त होता है ।। २ ।।

घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात् परात्मनि ।
समाधिं तं विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ।। ३ ।।

शरीर से भिन्न मन को करके परमात्मा में एकाकार करके समाधि को जानना चाहिये । (इस प्रकार) दशादि अवस्थाओं से मुक्त होता है ।। ३ ।।

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान् ।। ४ ।।

मैं ही ब्रह्म हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ । मैं ब्रह्म हूँ, न कि शोकादि का भागी हूँ । मैं नित्यमुक्त स्वभाववाला सच्चिदानन्द स्वरूपात्मा हूँ ।। ४ ।।

समाधियोगस्य भेदाः

शाम्भव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया ।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥ ५ ॥

(समाधि के भेद कहते हैं—) शांभवी, खेचरी, भ्रामरी और योनि, ये चार मुद्रायें हैं, जो ध्यान, नाद, रसानन्द, और लयसिद्धि में (क्रमशः धारण करनी चाहिये) ॥ ५ ॥

पञ्चधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा ।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत् ॥ ६ ॥

भक्तियोग पाँच प्रकार का है । तथा मनोमूर्च्छा छह प्रकार की है, जो राजयोग कही जाती है । इसमें भी प्रत्येक का धारण करना चाहिये ॥ ६ ॥

ध्यानयोगसमाधिः

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत् ।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥ ७ ॥

(ध्यान योग समाधि बताते हैं—) शांभवी मुद्रा को करके आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिये । बिन्दुब्रह्म को एकबार देखकर वहाँ मन को नियोजित करे ॥ ७ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु ।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते ।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः ॥ ८ ॥

आत्मा को आकाशस्थ (ब्रह्मरंध्र के अन्दर) करे और आत्मा के मध्य में आकाश को धारण करे । आत्मा को आकाशरूप करके किसी से भी बँधता नहीं है । सदा आन्नदमय होकर मनुष्य समाधिस्थ हो जाता है ॥ ८ ॥

नादयोगसमाधि:

साधनात् खेचरीमुद्रा रसनोर्ध्वंगता यदा ।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम् ।। ९ ।।

(नादयोग समाधि की विधि कहते हैं—) खेचरी मुद्रा के साधन से जिह्वा को ऊपर ले जाये । साधारण क्रियायें समाप्त होकर समाधि की सिद्धि हो जाती है ।। ९ ।।

रसानन्दयोगसमाधि:

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत् ।
मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्गनादं ततो भवेत् ।। १० ।।

(रसानंद समाधिविधि कहते हैं—) वायु को मन्द गति से लेकर भ्रामरी कुम्भक करे । वायु मंदगति से विचरे, तब भ्रमर जैसा नाद होता है ।। १० ।।

अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत् ।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः ।। ११ ।।

तब अंतस्थ भ्रामरी नाद को सुनकर वहाँ मन को लगाये, इससे समाधि लग जाती है और वहाँ आनन्द 'वही मैं हूँ' इस प्रकार से होता है ।। ११ ।।

लयसिद्धियोगसमाधि:

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत् ।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि ।। १२ ।।

(लयसिद्धि समाधिविधि कहते हैं—) योनिमुद्रा को करके स्वयं को शक्तिमान बनाये । शृंगाररूप रस से परमात्मा में विहार करे ।। १२ ।।

आनन्दमयः सम्भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् ।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते ।। १३ ।।

आन्नदमय होकर ब्रह्म में ऐक्यभाव हो जाये । मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की अद्वैत समाधि हो जाती है ।। १३ ।।

भक्तियोगसमाधिः

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम् ।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम् ।। १४ ।।

(भक्तियोग समाधिविधि बताते हैं—) अपने हृदय में इष्टदेव के स्वरूप का ध्यान करे । भक्तिपूर्वक परंआह्लाद का चिन्तन करे ।। १४ ।।

आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते ।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी ।। १५ ।।

(भक्तियोग में) आनन्द के अश्रुओं से हृदय पुलकित हो जाता है तथा भावपूर्ण दशा हो जाती है । उसी से समाधि होती है, तथा मन उन्मन हो जाता है ।। १५ ।।

राजयोगसमाधिः

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत् ।
परमात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात् ।। १६ ।।

मनोमूर्च्छा को करके मन को आत्मा में लगाये, तब परमात्मा के योग से समाधि को प्राप्त करना चाहिये ।। १६ ।।

समाधियोगमाहात्म्यम्

इति ते कथितश्चण्ड ! समाधिर्मुक्तिलक्षणम् ।
राजयोगसमाधिः स्यादेकात्मन्येव साधनम् ।
उन्मनी सहजावस्था सर्वे चैकात्मवाचकाः ।। १७ ।।

हे चण्ड ! इस प्रकार मुक्ति का लक्षण समाधि योग मेरे द्वारा कहा गया । राजयोग समाधि, उन्मनी, सहजावस्था और एकात्मवाचक योग आत्मैक्य होकर ही करना चाहिये ।। १७ ।।

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ।। १८ ।।

जल में विष्णु हैं, स्थल में विष्णु हैं, और पर्वत के मस्तक पर विष्णु हैं, अग्नि ज्वालाओं में विष्णु है और सब विष्णुमय ही है ॥ १८ ॥

भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तवः ।
वृक्षगुल्मलतावल्लीतृणाद्या वारि पर्वताः ।
सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि ॥ १९ ॥

भूचर, खेचर और जितने भी जीव जन्तु हैं, वृक्ष, गुल्म, बेल, लता, तृणादि जल और पर्वत सबको ब्रह्म जाने और आत्मा में ही देखे ॥ १९ ॥

आत्मा घटस्थचैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परम् ।
घटादिभिन्नतो ज्ञात्वा वीतरागं विवासनम् ॥ २० ॥

घटस्थ (शरीरस्थ) आत्मा चैतन्य है, अद्वैत है, शाश्वत है और पर है । इस शरीर से अलग मानने से मनुष्य वीतराग और वासनारहित हो जाता है ॥ २० ॥

एवं विधिः समाधिः स्यात् सर्वसङ्कल्पवर्जितः ।
स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु ।
सर्वेषु निर्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार सब संकल्पों से वर्जित समाधिविधि होती है । देह, पुत्र, स्त्री, आदि बान्धवों में, धनों में सबमें ममतारहित होकर समाधि को जानना (पाना) चाहिये ॥ २१ ॥

तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विविधानि च ।
तेषां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणम् ॥ २२ ॥

यह गोपनीय तत्व (लयामृत रूप) शिव द्वारा विधिपूर्वक बहुत प्रकार से कहा गया है । उसे संक्षेप में लेकर मुक्तिरूप लक्षण कहा गया है ॥ २२ ॥

इति ते कथितश्चण्ड ! समाधिर्दुर्लभः परः ।
यं ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले ।। २३ ।।

इस प्रकार हे चण्ड ! यह परं दुर्लभ समाधि का विषय बताया गया, जिसे जानकर भूमि पर पुनर्जन्म नहीं होता है ।। २३ ।।

।। इति श्रीघेरण्डसंहितायां राघवीयेभाष्ये समाधियोगो नाम सप्तमोपदेशः ।।







